CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश प्रसाद वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला, पुष्प–३३

आचार्य समन्तभद्रविरचित

स्वयम्भूस्तोत्र

की

तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या

लेखक तथा सम्पादक
प्रो० उदयचन्द्र जैन एम० ए०

प्रकाशक
श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश प्रसाद वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला, पुष्प-३२

आचार्य समन्तभद्रविरचित

स्वयम्भूस्तोत्र

की

तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या

लेखक तथा सम्पादक

प्रो० उदयचन्द्र जैन एम० ए०

जैन-बौद्ध-सर्वदर्शनाचार्य

पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग

प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थमाला सम्पादक :

डॉ. राजाराम जैन
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
संस्कृत-प्राकृत विभाग
ह. दा. जैन कालेज, आरा

प्रो. उदयचन्द्र जैन
पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग
प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक :
© श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान
नरिया, वाराणसी–२२१००५

मूल्य { अजिल्द ५०) रुपये
सजिल्द ६०) रुपये

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९९३ ई०
वीर निर्वाण संवत् २५१९

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

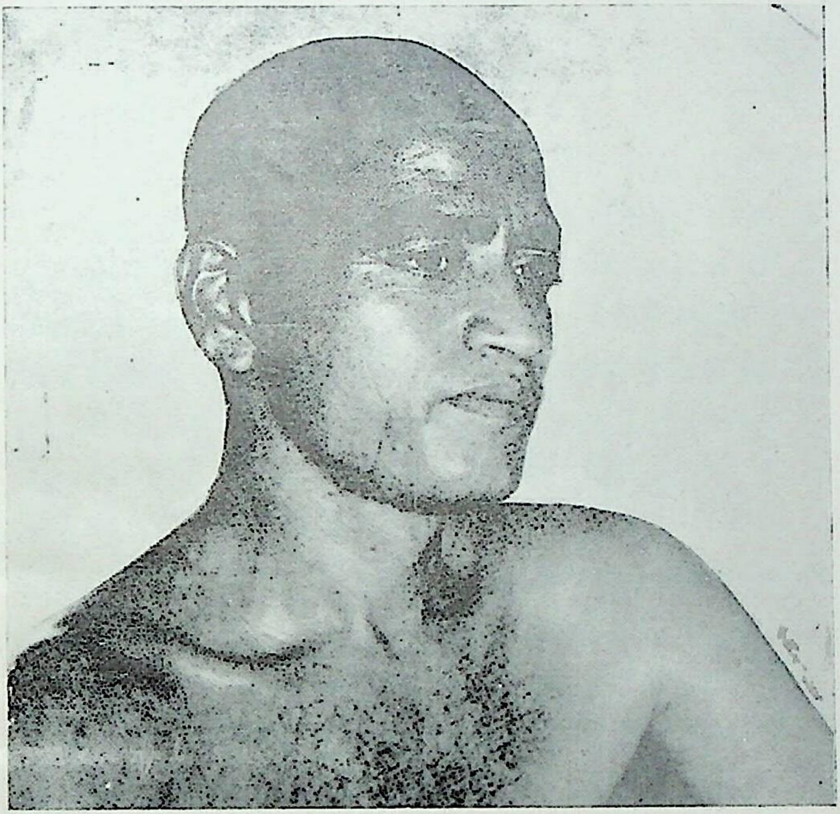

आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज

जिनकी सत्प्रेरणाऔर शुभाशीर्वाद से इस कृति का निर्माण
संभव हुआ उन प्रातःस्मरणीय परम तपस्वी परम पूज्य
सन्त शिरोमणि राष्ट्र सन्त, प्रशममूर्ति आचार्यश्री
विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
स्वयम्भूस्तोत्र-तत्त्वप्रदीपिका
नामक कृति श्रद्धा और भक्ति
के साथ सादर सविनय
सर्मपित ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वचन

महान् तार्किक आचार्य समन्तभद्र का जैनदर्शन के इतिहास में गौरव-पूर्ण स्थान है। उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों में स्वयम्भूस्तोत्र एक विशिष्ट कृति है, जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की तार्किक शैली में भक्तिभाव पूर्वक स्तुति की गई है। इसमें केवल ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों को स्तुति ही नहीं है, अपितु स्तुति के व्याज से जैनदर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, स्याद्वाद, भवितव्यता आदि सिद्धान्तों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है।

हर्ष की बात है कि श्री उदयचन्द्र जैन ने स्वयम्भूस्तोत्र की तत्त्व-प्रदीपिका नामक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का मैंने अवलोकन किया है। इसमें आचार्य समन्तभद्र के हार्द को सरल तथा सरस भाषा में अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। मैं इनकी योग्यता तथा विद्वत्ता से सुपरिचित हूँ। आशा है कि विद्वान् लेखक की यह कृति सबके लिए उप-योगी सिद्ध होगी।

इसके लेखक को मेरा शुभाशीर्वाद है कि वे आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका और स्वयम्भूस्तोत्र-तत्त्वप्रदीपिका आदि की तरह अन्य कृतियों की भी रचना करें, जिससे धर्म और संस्कृति की सेवा के साथ ही समाज भी उनकी विद्वत्ता से लाभान्वित हो सके।

चातुर्मास स्थल
तड़ाई (रांची)
बिहार

उपाध्याय ज्ञानसागर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्तभद्र स्तवन

गुणान्विता निर्मलवृत्तिमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥

—आचार्य वीरनन्दि

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥

—शुभचन्द्राचार्य

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥

—वर्धमान सूरि

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपसिद्धान्तमहीध्रकोटयः ॥

—महाकवि वादीभसिंह

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—वादिराजसूरि

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥

—श्रवणबेलगोल शिलालेख नं० १०८

समन्तभद्रः संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः ।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः ॥

—तिरुमकूडलुनरसीपुर शिलालेख नं० ५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रधान सम्पादकीय

जैन संस्कृत साहित्य एवं दर्शनके इतिहासमें महावादी, वाग्मी, गमक, महाकवि, कविकुञ्जर, वज्रांकुश, कविवेधा एवं महावादि-विजेताके रूपमें प्रख्यात स्वामी समन्तभद्र अपने स्तोत्र-साहित्यकी मौलिक विशेषताओंके कारण युगप्रधान एवं भक्त दार्शनिक आचार्य माने गए हैं। उनकी अद्यावधि ज्ञात ग्यारह कृतियोंमेंसे (१) बृहत्स्वयम्भू-स्तोत्र (अपरनाम स्वयम्भू-स्तोत्र अथवा चतुर्विंशति-जिनस्तवन) (२) स्तुति-विद्या (अपरनाम जिनशतक) (३) देवागम-स्तोत्र (अपरनाम आप्तमीमांसा) एवं (४) परमात्म स्तोत्र (अपरनाम परमेष्ठीस्तोत्र अथवा युक्त्यनुशासन) ये चार रचनाएँ स्तुतिपरक मानी गई हैं। क्योंकि इनमें जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंका स्तवन किया गया है, किन्तु इनमेंसे भी प्रथम दो कृतियाँ जिस प्रकार सर्वतोभावेन स्तुति-परक सिद्ध होती हैं और जिस प्रकार उनमें जिनेन्द्र प्रभुके वीतराग-गुणों की उत्कर्षताका भक्ति-भरित गुणानुवाद किया गया है, उसी प्रकार अन्तिम दो कृतियाँ स्तुति-परक होते हुए भी उनमें जिनेन्द्र-गुणोंके वर्णनमें उत्कर्षताकी मात्रा तो कम, किन्तु दार्शनिक-गुणों स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नय, प्रमाण, प्रमेय तथा एकान्तवाद की तर्क-पूर्ण समीक्षा आदि की प्रधानताके कारण उन्हें स्तोत्र-साहित्य की कोटिसे पृथक् उच्च श्रेणी की दार्शनिक कृतियोंमें स्थान दिया गया है।

समन्तभद्र की अन्य कृतियोंमें (५) रत्नकरण्डश्रावकाचार (६) जीवसिद्धि (७) तत्त्वानुशासन, (८) प्राकृत-व्याकरण (९) प्रमाण-पदार्थ, (१०) कर्मप्राभृत-टीका एवं (११) गन्धहस्तिमहाभाष्य प्रमुख हैं। किन्तु इनमेंसे अन्तिम छह कृतियाँ अनुपलब्ध ही है। गन्धहस्तिमहाभाष्यके विषयमें इधर कुछ सूक्ष्म सांकेतिक चर्चा आई है कि वह सम्भवतः नष्ट नहीं हुआ है और इसकी खोजबीनके कुछ अप्रचारित प्रयत्न चल रहे हैं। फिर भी, उसके अस्तित्वके विषयमें अभी निश्चित रूपसे कुछ कह पाना सम्भव नहीं। समय ही इसका उत्तर देगा।

प्रस्तुत स्वयम्भूस्तोत्रमें २४ तीर्थंकरों की स्तुतिके साथ-साथ समस्त तीर्थंकरों की पुराणेतिहास, संस्कृति एवं दर्शन सम्बन्धी त्रिपुटी प्रस्तुत की गई है। इस कृतिमें कुल १४३ पद्य हैं, जिनमेंसे १८वें, २२वें एवं २४वें तीर्थंकरोंको छोड़कर बाकीके २१ तीर्थंकरों की स्तुति ५-५ पद्योंमें तथा अवशिष्ट अरहनाथ, नेमिनाथ एवं महावीरका गुणानुवाद क्रमशः २०, १० एवं ८ पद्योंमें किया गया है।

इस रचनामें श्रमण संस्कृतिके चित्रणके साथ समन्तभद्रकालीन युगीनपरिस्थितियों एवं दार्शनिक मान्यताओं की भी झाँकी मिलती है। इसीलिए उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्यने उसे "निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः" कहते हुए, उसे "सूक्तार्थैरमलैःस्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः" बतला कर उसके उच्च आदर्श एवं गौरवको मुखरित किया है। उक्त कृतिके रचना-चातुर्यसे समन्तभद्र की काव्य-प्रतिभाका भी परिचय मिलता है, क्योंकि उसकी अलंकृत काव्य-शैली, विलक्षण शब्द-विन्यास, छन्द-वैविध्य, संगीतात्मक आरोह-अवरोह तथा भाव-प्रवण अर्थ-गाम्भीर्य उत्कृष्ट श्रेणीके कवियोंमें भी समन्तभद्र की पहिचान पृथक् रूपसे करानेमें सक्षम है। उसमें प्रयुक्त छन्दोंमें वंशस्थ, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्रअनुष्टुभ, सुभद्रिका-मालतीमिश्र-यमक, वानवासिक, वैतालीय, शिखरणी, उद्गता, आर्यागीति (स्कन्धक) आदि तथा अलंकारों की दृष्टिसे इसमें उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों और अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारोंसे सनाथ यह रचना विशिष्ट कोटि की बन पड़ी है।

महाभारत सम्बन्धी जैनकथाके बीज-सूत्रों की दृष्टिसे भी यह रचना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसमें सम्भवतः सर्वप्रथम गरुडध्वज (नारायण-कृष्ण) और हलधर (बलभद्र) एवं रैवतक गिरिका उल्लेख किया गया है। गरुडध्वज एवं हलधरको अरिष्टनेमिजिनके चरणारविन्दमें प्रणाम करने वाला बतलाया गया है। यह सन्दर्भ जैन महाभारतकथाके उद्भव एवं विकासके लेखनमें विशेष रूपसे सहयोगी सिद्ध होगा।

स्वामी समन्तभद्रका भाषा एवं विषयपर इतना अधिकार था कि उन्होंने अपनी रचनाओंमें अतिसंक्षिप्त शब्दोंमें भी जैनागमोंका सार भर दिया। उदाहरणार्थ उनकी एक ही कृति "देवागम-स्तोत्र"को लें। उसमें कुल ११४ कारिकाएँ हैं। उनका विशदार्थ करनेके लिए महान् शास्त्रार्थज्ञ एवं दार्शनिक भट्टाकलंकदेवने "अष्टशती" नामक ८०० श्लोक प्रमाण टीका लिखी। किन्तु उससे भी जब जनसामान्यको उसका अर्थ स्पष्ट न हो सका, तब आचार्य विद्यानन्दने उसपर "अष्टसहस्री" नामकी ८ हजार श्लोक वाली संस्कृत-टीका लिखी। फिर भी वह विषय दुरूह ही बना रहा। अतः उसे सर्वभोग्य बनाने की दृष्टिसे उसपर भी ८ हजार श्लोकोंके बराबर संस्कृतटिप्पण लिखे गये, फिर भी वह विषय जटिल ही बना हुआ है।

समन्तभद्रके रचनाकालके विषयमें कुछ समय पूर्व तक अनेक भ्रान्तियाँ थीं किन्तु पं० जुगलकिशोर मुख्तार एवं पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य प्रभृति महारथी विद्वानोंने आचार्य पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरणके "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" (४/५/१९०) नामक उल्लेख तथा अन्य साक्ष्योंके आधार पर उनका समय विक्रम संवत् की दूसरी सदी निश्चित किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वामी समन्तभद्र अपने जीवनमें निरन्तर ही निर्भीक एवं साहसी बने रहे। उन्होंने अपनी गहन साधनासे सरस्वतीको भी अपने वशमें कर लिया था। इसीलिए गद्यचिन्तामणिकारने उन्हें "सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः" तथा प्रतिवादियोंको पराजित करनेके कारण उन्हें "वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपपराद्धान्तमहीध्रकोटयः" कहा है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि स्वामी समन्तभद्रका यह दृढ़ आत्म-विश्वास श्रमण संस्कृतिके उद्धारका ऐतिहासिक प्रतीक बन गया।

जैन इतिहासमें दो ही कवि ऐसे मिलते हैं, जिन्होंने विपक्षियों की ताल ठोककर चुनौती स्वीकार की थी, उनमें सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्र थे और सम्भवतः इन्हींसे प्रभावित थे—८ वीं-९ वीं सदी के अपभ्रंश महाकवि पुष्पदन्त, जिनके कई विशेषणोंमें से एक विशेषण "अभिमानमेरु" भी मिलता है। स्वामी समन्तभद्र अपने विषयमें स्वयं ही कहते है कि "मैंने सबसे पहले पाटलिपुत्रनगरमें शास्त्रार्थके लिए डंका पीटा, पुनः मालवा, सिन्धु, ठक्क (ढाका-बंगलादेश), कांचीपुर तथा विदिशा और बादमें अनेक विद्वानोंसे सनाथ कर्नाटकमें भी भेरी बजाई और इसी प्रकार मैं शास्त्रार्थ करनेके लिए सिंहके समान इधर-उधर क्रीड़ाएँ करता रहा।" वस्तुतः यह उनकी गर्वोक्ति नहीं, बल्कि अपने अगाध-पाण्डित्यके प्रति अखण्ड आत्मविश्वास था और इसके चलते उन्होंने समकालीन अनेक गर्वीले एवं हठीले प्रतिपक्षी शास्त्रार्थियों को भी नतमस्तक कर दिया था।

प्रस्तुत गौरवपूर्ण रचना पर यद्यपि अन्य विद्वानोंने भी टीकाएँ लिखी हैं, फिर भी यह प्रसन्नताका विषय है कि भारतीय दर्शनों, विशेष रूपसे जैन-दर्शनके अधिकारी विद्वान् प्रो॰ उदयचन्द्रजीने परम पूज्य आचार्य विद्यासागरजी की पावन प्रेरणा से उस पर "तत्त्वप्रदीपिका" नामकी हिन्दी व्याख्या तथा सारभूत प्रस्तावना लिखकर विषय को सरस और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इससे स्वाध्यायार्थी एवं शोधार्थी दोनों ही लाभान्वित होंगे। प्रो॰ सा॰ की इस रचना का प्रकाशन करनेमें संस्थान गौरव का अनुभव करता है तथा आशा करता है कि वे संस्थान को आगे भी अपनी वैदुष्यपूर्ण कृतियाँ प्रदान करते रहने की कृपा करते रहेंगे।

महाजन टोली नं॰ २
आरा (बिहार)
दिनांक ४/९/९३

प्रो॰ (डॉ॰) राजाराम जैन
ग्रन्थमाला सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा थी कि संस्थानसे एक ऐसे ग्रन्थका प्रकाशन हो जिसका वाराणसी से विशेष सम्बन्ध रहा हो तथा जिसमें जैनधर्मके सिद्धान्तोंका प्रामाणिक विवेचन भी हो। संयोगसे आदरणीय प्रो० उदयचन्द्रजी जैन ने आचार्य समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्र (जिस स्तोत्रका प्रारम्भ स्वयम्भू शब्दसे होता है) की हिन्दी व्याख्या संस्थानके समक्ष प्रस्तुत की जिसे उन्होंने परमपूज्य आचार्य शिरोमणि विद्यासागरकी प्रेरणासे तैयार की थी। वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर 'स्वयम्भू' (परोपदेशादिके बिना ही आत्मविकास करते हुए अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूप स्वरूपोपलब्धिको प्राप्त) कहलाते हैं। समग्ररूपसे वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंकी इसमें स्तुति की गई है। अतएव इसका दूसरा नाम 'चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र' भी प्रसिद्ध है।

'स्वयम्भूस्तोत्र' की रचनाके मूलमें वाराणसीमें घटित एक आश्चर्यजनक घटना है जिसके प्रभावसे शैवधर्मावलम्बी तत्कालीन राजा शिवकोटिने अपने अनुयायियोंके साथ जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।[1]

यद्यपि सभी तीर्थंकर जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें जन्म लेकर अर्हन्त अवस्थाको समान रूपसे प्राप्त हुए हैं परन्तु उनमें पूर्वभवसापेक्ष जीवन-सम्बन्धी घटनाओंको लेकर भेद भी हैं। प्रस्तुत स्तोत्रमें उन घटनाओंका भी कहीं-कहीं (प्रथम, सोलहवें, बाईसवें और तेईसवें तीर्थंकरके स्तवनमें) उल्लेख मिलता है। अन्यत्र अनेकान्त, स्याद्वाद, अहिंसा आदि जैनधर्मके प्रमुख सिद्धान्तोंका विशेषरूपसे गूढ तथा सयुक्तिक विवेचन है। जैसा कि आचार्य प्रभाचन्द्रने स्वयम्भूस्तोत्रकी संस्कृत टीका करते हुए कहा है—

यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः श्रीगौतमाद्यैः कृतः।
सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः॥

काव्यत्वके गुणोंसे परिपूर्ण इस स्तुतिकाव्यमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगका समन्वय दिखलाया गया है। आचार्य समन्तभद्र स्वयं भी एक आदर्श भक्तियोगी, ज्ञानयोगी और कर्मयोगी थे। इन तीनोंका समन्वय ही जैनधर्मका लक्ष्य है। जैसा कि आचार्य उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके प्रथमसूत्रमें कहा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

---

१. घटनाके विस्तृत विवरण हेतु देखें, इसी ग्रन्थकी प्रस्तावना, पृ० १४-१६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस उत्तम कोटिकी काव्यरचना पर यद्यपि स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार तथा डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्यकी हिन्दी टीकाओंके साथ आचार्य प्रभाचन्द्रकी विद्वत्तापूर्ण संस्कृत टीका भी उपलब्ध है, परन्तु विद्वान् लेखक प्रो० उदयचन्द्रजीने इन तीनों टीकाओंका सम्यक् उपयोग करते हुए इस कृतिमें विस्तृत विवेचना की है जो अर्थावबोधमें बहुत उपयोगी है।

सभी भारतीय दर्शनों पर समान रूपसे अधिकार रखने वाले श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान ट्रस्टके उपाध्यक्ष आदरणीय प्रो० उदयचन्द्र जी जैन काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके स० वि० ध० वि० संकायमें दर्शनविभागाध्यक्ष रहे हैं। मुझे विश्वास है आपके द्वारा लिखित यह हिन्दी व्याख्या सभीको उपयोगी होगी तथा जैनधर्मके आगमिक सिद्धान्तोंको समझनेमें सहायता मिलेगी। मैं आदरणीय प्रो० जीके प्रति श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने यह अमूल्य कृति हमें प्रकाशनार्थ प्रदान की। यद्यपि मैं शब्दार्थके साथ आचार्य प्रभाचन्द्रकी मूल संस्कृत टीका भी देना चाहता था परन्तु ग्रन्थ-विस्तारके कारण नहीं दे सका। अगले संस्करणमें इस कमीको पूरा करने का प्रयत्न करूँगा।

प्रस्तुत कृतिके प्रकाशनमें संस्थानके उपाध्यक्ष संस्कृत-प्राकृतभाषा विशारद प्रो० राजाराम जैन आरा तथा पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीके अद्वितीय पुत्र भौतिक-विज्ञानवेत्ता डॉ० अशोक कुमार जैन रुड़कीका विशेष रूपसे आभारी हूँ जिनके प्रयत्नोंसे इस कृतिको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो सका। ग्रन्थके शीघ्र प्रकाशनमें सहयोगी महावीर प्रेस वाले श्री बाबूलाल जी फागुल्ल तथा मित्र डॉ० सुरेशचन्द्र जैन (संयुक्त मन्त्री) को धन्यवाद देता हूँ। इनके अतिरिक्त जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे इस कार्यमें सहयोग रहा है उनके प्रति भी संस्थानकी ओरसे आभार व्यक्त करता हूँ।

डॉ० सुदर्शनलाल जैन

स्वतन्त्रता दिवस
१५ अगस्त, १९९३

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, का० हि० वि० वि०
निदेशक एवं कार्यकारी मन्त्री
श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-२२१००५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राक्कथन

परम प्रसन्नताकी बात है कि इस कृतिके लिखनेमें परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराजकी प्रेरणा या इच्छा निमित्त कारण है। सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरिसे नवम्बर १९९० में एक महानुभावका मुझे एक पत्र मिला था, जिसमें लिखा था—

"अभी मुक्तागिरिमें परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर महाराजके समक्ष स्वयम्भूस्तोत्रके सम्पादन तथा उसमें प्रतिपादित दार्शनिक तत्त्वोंके विशद विवेचनके विषयमें चर्चा हुई थी। उस समय आचार्यश्रीने इस कार्यके लिए आपके नामका सुझाव दिया था। क्योंकि आचार्यश्री आपकी बहुमुखी विद्वत्तासे परिचित हैं। निश्चय ही इस कार्यके लिए आप ही सर्वाधिक उपयुक्त विद्वान् हैं। हमें विश्वास है कि आप इस कार्यके लिए इनकार नहीं करेंगे।"

अतः मैंने पूज्य आचार्यश्रीकी आज्ञा या इच्छाको आशीर्वाद समझकर सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस विषय पर कुछ लिखनेके पूर्व मैंने श्रीमान् (स्व०) जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा सम्पादित और अनूदित स्वयम्भूस्तोत्रका तथा श्रीमान् पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा लिखित स्वयम्भूस्तोत्रकी हिन्दी टीकाका अध्ययन किया। साथ ही स्वयम्भूस्तोत्र पर आचार्य प्रभाचन्द्र विरचित संस्कृत टीकाको भी ध्यानसे पढ़ा। तदनन्तर मैंने अपनी अल्प बुद्धिके अनुसार स्वयम्भूस्तोत्र पर कुछ लिखना प्रारम्भ किया। मैंने स्वयम्भूस्तोत्रमें आगत दार्शनिक तत्त्वोंको यथाशक्ति और यथासम्भव स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। फिर भी मेरे विवेचनमें भूलोंका रह जाना सम्भव है। क्योंकि 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे' यह उक्ति मुझ पर भी लागू होती है।

मैं यहाँ यह बतला देना चाहता हूँ कि मुझे श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारके अनुवादसे तथा श्री पं० पन्नालाल जीकी हिन्दी टीकासे और आचार्य प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीकासे पर्याप्त सहायता मिली है। आवश्यकतानुसार मैंने उनके भाव, अर्थ तथा शब्दोंका ग्रहण किया है। सम्भव है कि कहीं-कहीं वाक्योंका भी ग्रहण हो गया हो। प्रस्तावनाके लिखनेमें भी मैंने उक्त दोनों महानुभावोंकी प्रस्तावनाको आधार बनाकर कुछ लिखा है। इसके लिए मैं उक्त दोनों महानुभावोंका आभारी हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैंने यह निश्चय किया था कि लेखन कार्य पूर्ण हो जाने पर एकबार आचार्य-श्रीके चरणोंमें बैठकर अपने लेखनका वाचन करूँगा और आचार्यश्रीकी सम्मतिसे ही इसे अन्तिम रूप दूँगा। तदनुसार मैं दिनांक १५ अगस्त १९९१ को मुक्ता-गिरि पहुँचा। किन्तु आचार्यश्रीकी अत्यन्त व्यस्तताके कारण मैं अपने लेखनका वाचन नहीं कर सका। फिर भी आचार्यश्रीने स्वयम्भूस्तोत्रकी पाण्डुलिपिका सिंहावलोकन करके प्रसन्नता प्रकट की और मुझे आशीर्वाद दिया। परम हर्षकी बात है कि इस प्रसंगसे प्रथम बार सिद्ध क्षेत्र मुक्तागिरिके दर्शन करनेका सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो गया। इस सबके लिए मैं किन शब्दोंमें पूज्य आचार्यश्रीका आभार व्यक्त करूँ। यह सब आपकी प्रेरणा और आशीर्वादका ही फल है। मैं तो आपके पुण्य गुणोंके स्मरणमात्रसे ही पवित्र हो गया हूँ।

उपरि उल्लिखित पत्रके लेखक तथा पूज्य आचार्यश्रीके परम भक्त जिन महानुभावने इस कृतिके शीघ्र प्रकाशनका आश्वासन दिया था, वे कुछ कारणोंसे दो वर्ष तक अपने आश्वासनको पूरा नहीं कर सके। तब मैंने जनवरी १९९३में श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थानकी प्रकाशन समितिसे इसे प्रकाशित करनेका निवेदन किया। प्रसन्नताकी बात है कि समितिने इसके प्रकाशनको सहर्ष स्वी-कार कर लिया। अतः मैं वर्णी संस्थानके पदाधिकारियों तथा प्रकाशन समितिके सदस्योंका विशेष रूपसे आभारी हूँ जिनके अनुग्रहसे इस कृतिका शीघ्र प्रकाशन सम्भव हो सका।

प्रसिद्ध जैन सन्त पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराजने आशीर्वचन लिखनेका महान् अनुग्रह किया है। इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

महावीर प्रेसमें तत्परतासे कलापूर्ण मुद्रणके लिए श्रीमान् भाई बाबूलाल जी फागुल्लको हार्दिक धन्यवाद।

१५ अगस्त, १९९३
१२२-बी, रवीन्द्रपुरी
वाराणसी-२२१००५

उदयचन्द्र जैन
सर्वदर्शनाचार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रम

प्रस्तावना

विषय	पृष्ठ
ग्रन्थनाम	१
स्तुतिका स्वरूप	१
स्तुतिका प्रयोजन	१
स्तुतिका फल	२
स्वयम्भूस्तोत्रका महत्त्व	४
स्वयम्भूस्तोत्रका प्रतिपाद्य विषय	५
भक्तियोग	१२
ज्ञानयोग	१३
कर्मयोग	१३
स्वयम्भूस्तोत्रका रचना स्थल-वाराणसी	१४
स्वयम्भूस्तोत्रके रचयिता आचार्य समन्तभद्र	१६
समन्तभद्रका व्यक्तित्व	१६
समन्तभद्रका जन्म स्थान, कुल आदि	१९
समन्तभद्रका समय	२०
समन्तभद्रकी कृतियाँ	२०
जैनदर्शनके इतिहासमें समन्तभद्रका स्थान	२१
समन्तभद्रकी दार्शनिक उपलब्धियाँ	२२
सर्वज्ञसिद्धि	२२
जीवसिद्धि	२३
द्रव्यमें उत्पादादित्रयकी सिद्धि	२३
स्याद्वाद और सप्तभंगीकी सुनिश्चित व्यवस्था	२४
अनेकान्तमें अनेकान्तकी योजना	२४
सर्वोदय तीर्थ	२४
स्वयम्भूस्तोत्रके संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र	२५

स्वयम्भूस्तोत्र

श्री वृषभ जिन स्तवन	२७
श्री अजित जिन स्तवन	३४
श्री शंभव जिन स्तवन	३९
श्री अभिनन्दन जिन स्तवन	४५
श्री सुमति जिन स्तवन	५०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

	पृष्ठ
श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन	५८
श्री सुपार्श्व जिन स्तवन	६३
श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन	७१
श्री सुविधि जिन स्तवन	७६
श्री शीतल जिन स्तवन	८४
श्री श्रेयांस जिन स्तवन	८९
श्री वासुपूज्य जिन स्तवन	९५
श्री विमल जिन स्तवन	१०३
श्री अनन्त जिन स्तवन	११०
श्री धर्म जिन स्तवन	११५
श्री शान्ति जिन स्तवन	११९
श्री कुन्थु जिन स्तवन	१२४
श्री अर जिन स्तवन	१२८
श्री मल्लि जिन स्तवन	१४३
श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन	१४७
श्री नमि जिन स्तवन	१५२
श्री नेमि जिन स्तवन	१६०
श्री पार्श्व जिन स्तवन	१६७
श्री वीर जिन स्तवन	१७२
परिशिष्ट—१	
स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक अनुक्रमणी	१८३
परिशिष्ट—२	
स्वयम्भूस्तोत्रान्तर्गत विशिष्ट शब्द अनुक्रमणिका	१८६
परिशिष्ट—३	
सन्दर्भ ग्रन्थ सारिणी	१९४

नोट—पृष्ठ ३६ पर तृतीय श्लोक के प्रारंभ में 'या' के स्थान में 'यः' पढ़ें।

इसी प्रकार पृष्ठ ६६ पर 'अष्टसहस्री की कारिका ८९ की व्याख्या में' के स्थान पर 'आप्तमीमांसा की कारिका ८९ की अष्टसहस्री टीका में' पढ़ें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

ग्रन्थ नाम :

इस ग्रन्थका नाम स्वयम्भूस्तोत्र है। स्वयम्भू शब्दसे प्रारंभ होनेके कारण इसका नाम स्वयम्भूस्तोत्र हो गया है। प्रारंभिक शब्दोंके अनुसार अन्य स्तोत्रोंके भी नामोंकी परिपाटी देखनेको मिलती है। देवागम, भक्तामर, एकीभाव और कल्याणमन्दिर जैसे स्तोत्रोंमें हम देखते हैं कि प्रारंभिक शब्दके अनुसार ही उनके नाम रूढ़ हो गये हैं। स्वयम्भूस्तोत्रमें स्वयम्भूपदको प्राप्त चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है। जो दूसरोंके उपदेशके बिना ही मोक्षमार्गको जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनन्तचतुष्टयरूप आत्मविकासको प्राप्त होता है उसे स्वयम्भू कहते हैं। वृषभादि महावीर पर्यन्त चतुर्विशति तीर्थंकर ऐसे ही स्वयम्भू हैं। अतः स्वयम्भू शब्द तीर्थंकरका वाचक है और इसमें स्वयम्भुवों (चौबीस तीर्थंकरों) की स्तुति होनेके कारण इसका स्वयम्भूस्तोत्र यह नाम सार्थक है। इसका दूसरा नाम चतुर्विशतिजिनस्तोत्र भी है। क्योंकि इसमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है।

स्तुति का स्वरूप :

लोकमें स्तुतिका जो स्वरूप प्रचलित है वह इस प्रकार है—गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः। किसीमें अल्प गुण विद्यमान हैं। उन विद्यमान अल्प गुणोंका उल्लंघन करके उनके बहुत्वकी कथा करना—उनको बढ़ा-चढ़ाकर कहना स्तुति कहलाती है। आचार्य समन्तभद्रने चौबीस तीर्थंकरोंकी जो स्तुति की है वह ऐसी स्तुति नहीं है। यहाँ विद्यमान गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर कहनेका तो प्रश्न ही नहीं है। यहाँ तो समस्या यह है कि तीर्थंकरोंमें जो अनन्तगुण विद्यमान हैं उनको कहा ही नहीं जा सकता है। अतः उन अनन्तगुणोंमेंसे कुछ गुणोंके नाम कीर्तन मात्रसे सन्तोष करना पड़ता है। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक तीर्थंकरोंके कुछ गुणोंका कथनमात्र या स्मरणमात्र ही स्तुति है। यह स्तुति लोक प्रसिद्ध स्तुतिसे सर्वथा भिन्न है।

स्तुतिका प्रयोजन :

स्तुत्यमें जो गुण विद्यमान हैं उन गुणोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना स्तुतिका लक्ष्य या प्रयोजन है। तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें कहा गया है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

यहाँ स्तोता कहता है कि मोक्षमार्गनेतृत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व ये तीन विशिष्ट गुण जिस आराध्य देवमें पाये जाते हैं मैं उन गुणोंको प्राप्तिके लिए उनकी वन्दना करता हूँ।

जिनेन्द्र देवकी स्तुतिका प्रयोजन है—आत्माको पवित्र करना। संसारी प्राणीकी आत्मा रागादि दोषों तथा ज्ञानावरणादिरूप कर्मकलंकसे सदा अपवित्र रहता है। अतः जिनेन्द्र भगवान्के पुण्य गुणोंका स्मरण तथा कीर्तन आत्माकी अपवित्रताको दूर कर उसे पवित्र करता है। स्तुति करनेसे वीतराग भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं। इसलिए उनकी स्तुति करनेका प्रयोजन न तो उन्हें प्रसन्न करना है और न उनकी प्रसन्नता द्वारा अपना कोई कार्य सिद्ध करना है। किन्तु श्रद्धापूर्वक स्तुति करनेवाले व्यक्तिके परिणामोंमें निर्मलता आती है और उस निर्मलतासे पापोंका क्षय तथा पुण्यका बन्ध होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जिनेन्द्र देवकी स्तुति स्तोताके पुण्य प्रसाधक तथा पवित्रता विधायक कुशल परिणामोंकी कारण अवश्य होती है। इसी बातको 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल परिणामाय' इस वाक्यके द्वारा कहा गया है।

स्तुतिका फल :

यहाँ इस बात पर विचार करना है कि स्तुतिका कोई फल मिलता है या नहीं। स्तुतिकर्ताको स्तुति का फल मिले या न मिले किन्तु प्रत्येक अन्तरात्माको किसी फलाकांक्षाके बिना निष्काम भावसे अपने आराध्य देवकी स्तुति अवश्य करना चाहिए। हमारे आराध्य वृषभादि चौबीस तीर्थंकर हैं और उनकी स्तुति करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। लोकनायक श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

प्रत्येक मानवका अधिकार कर्म करनेमें है, फलमें नहीं। यही बात स्तुतिके सम्बन्धमें भी ध्यान देने योग्य है। यदि भक्तिपूर्वक आराध्य देवकी स्तुति की जायेगी तो उसका फल अवश्य मिलेगा, किन्तु सांसारिक वैभव आदिकी कामनासे स्तुति नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी सांसारिक वस्तु धन, पुत्रादिकी कामनासे जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति करता है तो उसका ऐसा करना उचित नहीं है। क्योंकि वीतराग और निर्ग्रन्थ होनेसे जिनेन्द्र देवके पास देने योग्य कुछ भी नहीं है। फिर भी विवेक पूर्वक शुभ भावोंसे की गयी स्तुतिका फल स्तोताको अवश्य मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुतिका फल दो प्रकारका होता है—साक्षात् फल और परम्परा फल। स्तुतिका साक्षात् फल है—पुण्योत्पादक प्रशस्त परिणामोंका होना। स्तुति करनेसे स्तोताके परिणाम प्रशस्त होते हैं और उन प्रशस्त परिणामोंसे पापका क्षय और पुण्यका बन्ध होता है। स्तुति करनेका यह साक्षात् फल है। पुण्यबन्धके कारण चक्रवर्ती आदिके वैभवकी प्राप्ति तथा स्वर्गादिके सुखोंकी भी प्राप्ति होती है। यह स्तुतिका परम्परा फल है। अन्तमें ऐसा भी समय आता है जब स्तोता स्तुत्यके समान हो जाता है। इसे भी स्तुतिका परम्पराफल कह सकते हैं।

स्तुतिकर्ता पहले 'दासोऽहम्' की स्थितिमें होता है। वह कहता है कि हे भगवन्! मैं आपका दास (सेवक या भक्त) हूँ। दूसरी अवस्था वह है जब भक्त कहता है—'सोऽहम्'। जैसे जिनेन्द्रदेव हैं वैसा मैं भी हूँ। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। और अन्तिम अवस्था वह है जिसमें 'सः' (वह) का विकल्प छूट जाता है तथा स्तुतिकर्ता केवल 'अहम्' (मैं) के रूपमें रह जाता है। इस अवस्थामें वह और मैं का द्वैतभाव नहीं रहता है। केवल 'अहमेक्को खलु सुद्धो'का अद्वैतभाव ही रह जाता है।

स्तुतिके फलके प्रकरणमें यह भी दृष्टव्य है कि स्तुतिकर्ता आचार्य समन्तभद्रने चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करते समय उनसे किसी वस्तुकी याचना नहीं की। वे तो तत्त्वोंके ज्ञाता विवेकी पुरुष थे। अतः उन्होंने स्तुतिके फलस्वरूप किसी सांसारिक वस्तुकी कामना नहीं की। इसके विपरीत केवल यही भावना प्रकट की कि हे भगवन्! आपकी स्तुतिके प्रसादसे मेरा चित्त पवित्र हो, आत्मा निर्मल हो, जिससे मैं भी आप जैसा मोक्षका पात्र बन सकूँ। आचार्य समन्तभद्रकी भावनाको उन्हींके शब्दोंमें देखिए।

प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ जिनकी स्तुति करते समय उन्होंने कहा—

पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनः।

श्री नाभिरायके पुत्र श्री वृषभ जिन मेरे अन्तःकरणको पवित्र करें।

द्वितीय तीर्थंकर श्री अजित जिनकी स्तुति करते समय उन्होंने कहा—

जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम्।

भगवान् अजित जिन मेरे लिए जिनश्री (शुद्धात्मलक्ष्मी)का विधान करें।

तृतीय तीर्थंकर श्री शंभव जिनकी स्तुति करते समय उन्होंने कहा—

ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः।

हे आर्य! आप मुझे उच्चकोटिकी शिवसन्तति (कल्याण परम्परा) प्रदान करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचम तीर्थंकर श्री सुमति जिनके स्तवनमें कहा गया है—

मतिप्रवेकः स्तवतोऽस्तु नाथ ।

हे नाथ ! आपकी स्तुति करनेवाले मुझ स्तोताकी मतिका उत्कर्ष हो ।

आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ जिनके स्तवनमें कहा गया है—

पूयात् पवित्रो भगवान् मनो मे ।

पवित्र भगवान् श्री चन्द्रप्रभ जिन मेरे मनको पवित्र करें ।

पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्म जिनकी स्तुति करते समय उन्होंने कहा—

श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ।

हे धर्म जिन ! आप हमारे कल्याणके लिए प्रसन्न होवें ।

अठारहवें तीर्थंकर श्री अर जिनके स्तवनमें कहा गया है—

गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवताद् दुरितासनोदितम् ।

हे अर जिन ! आपके विषयमें जो अल्प गुणोंका कीर्तन किया गया है वह मेरे पापकर्मोंके विनाशमें समर्थ हो ।

बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत जिनकी स्तुति करते समय उन्होंने कहा है—

भवतु ममापि भवोपशान्तये ।

हे मुनिसुव्रत जिन ! आप मेरे संसारकी शान्तिके लिए निमित्तभूत होवें ।

स्वयम्भूस्तोत्रका महत्त्व :

सामान्यरूपसे स्वयम्भूस्तोत्र एक स्तोत्र ग्रन्थ है और इसमें वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है । परन्तु जब हम स्वयम्भूस्तोत्र का परिशीलन करते हैं तब ज्ञात होता है कि तीर्थंकरों की स्तुतिके बहाने इसमें जैनागमका सार तथा तत्त्वज्ञान पूर्णरूपसे भरा हुआ है । स्वयम्भूस्तोत्रके संस्कृत टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने इस स्तोत्रकी महिमा बतलाते हुए ग्रन्थके अन्तमें लिखा है -

यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः श्रीगौतमाद्यैः कृतः ।
सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ॥

उन्होंने इस स्तोत्रको समस्त जैन सिद्धान्तको विषय करनेवाला बतलाया है । इस स्तोत्रके द्वारा जैनदर्शनके अनेकान्त, स्याद्वाद, प्रमाण, नय, अहिंसा, अपरिग्रह आदि अनेक मौलिक सिद्धान्तोंका स्पष्ट बोध कराया गया है । यह स्तवन अद्वितीय है । इसके समान और कोई दूसरा स्तवन देखनेमें नहीं आता है । इस स्तोत्रके पदोंके सूक्तार्थ, अमल, स्वल्प और प्रसन्न विशेषणोंके द्वारा इस स्तोत्रका महत्त्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भी बढ़ जाता है। इस स्तोत्रका प्रत्येक पद सूक्तार्थ, निर्दोष, अल्पाक्षर और प्रसादगुण विशिष्ट है। वास्तवमें इसका प्रत्येक पद बीज पद जैसा सूत्र वाक्य है। अतः इसको जैनागम कहना सर्वथा उचित है। कुछ ग्रन्थोंमें आगमरूपसे इसके वाक्योंका उल्लेख मिलता भी है। कवि वाग्भट्टने अपने काव्यानुशासनमें लिखा है—आगम आप्तवचनं यथा—

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु' इत्यादि।

आचार्य जटासिंहनन्दीने अपने वरांगचरितमें लिखा है—

अनेकान्तोऽपि चैकान्तः स्यादित्येवं वदेत्परः।
अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः इति जैनी श्रुतिः स्मृता ॥

यहाँ स्वयम्भूस्तोत्रके 'अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः' इस वाक्यको उद्धृत करते हुए उसे 'जैनी श्रुतिः' अर्थात् जैनागमका वाक्य बतलाया है।

स्वयम्भूस्तोत्रमें जो कुछ भी विवेचन किया गया है वह सब जैनागमके अनुकूल है। इसमें न तो कहीं प्रत्यक्षसे विरोध है और न आगमादि से विरोध है। अतः यह ग्रन्थ आगम तुल्य है। यथार्थमें आचार्य समन्तभद्रने युक्त्यनुशासन, आप्त-मीमांसा आदि अन्य ग्रन्थोंमें भी प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध अर्थका ही सर्वत्र प्ररूपण किया है। इसी कारण आचार्य जिनसेनने हरिवंशपुराण में 'वचः समन्त-भद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते' कहकर आचार्य समन्तभद्रके वचनको श्री वीर जिन के वचनके समान प्रकाशमान बतलाया है।

स्वयम्भूस्तोत्र का प्रतिपाद्य विषय :

स्वयम्भूस्तोत्रका मुख्य प्रतिपाद्य विषय वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंके अनन्त गुणोंमेंसे कुछ गुणोंका कीर्तन या नाममात्र कथन है। क्योंकि उनके अनन्त गुणोंका कथन संभव ही नहीं है। मोक्षमार्गनेतृत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व, विश्वतत्त्वज्ञातृत्व और अनन्तचतुष्टय आदि आध्यात्मिक गुण सब तीर्थंकरोंमें समान हैं। सभी तीर्थंकर स्वयम्भू हैं। और सभीने जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें उत्पन्न होकर अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त किया है। इस दृष्टिसे सभी तीर्थंकर समान हैं। फिरभी देश, काल और परिस्थितिके अनुसार उनमें कुछ भेद भी है। जैसे प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ जिन कर्मभूमिके प्रारम्भमें अवतीर्ण होनेसे प्रजा को कृषि आदि छह कार्योंकी शिक्षा देनेके कारण प्रथम प्रजापति कहलाये।

इस स्तोत्रमें कुछ तीर्थंकरोंका स्तवन वर्णनात्मक है। जैसे प्रथम, सोलहवें, बाईसवें और तेईसवें तीर्थंकरोंके स्तवनमें उनकी जीवन सम्बन्धी घटनाओंका विशेष रूपसे वर्णन किया गया है। कुछ तीर्थंकरोंके स्तवनमें जैनधर्म एवं जैनदर्शनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमुख सिद्धान्तोंका विशेषरूपसे विवेचन किया गया है। पाँचवें, नौवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, अठारहवें, इक्कीसवें और चौबीसवें तीर्थंकरोंके स्तवनमें अनेकान्त, स्याद्वाद, सापेक्ष नयवाद, सप्तभंगी, कार्योत्पत्तिमें उपादान और निमित्त दोनों कारणोंकी अनिवार्यता, भवितव्यता, अहिंसा, अपरिग्रह आदि जैनधर्म और जैन-दर्शनके मौलिक सिद्धान्तोंका युक्तिपूर्वक समर्थन उपलब्ध होता है।

यहाँ चौबीस तीर्थंकरोंकी कुछ विशेषताओंको स्तवनके आधार पर बतलाया जा रहा है—

प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ जिन प्रथम प्रजापति थे। उन्होंने अपनी प्रजाको कृषि आदि छह कार्योंमें प्रशिक्षित किया था, जिससे कल्पवृक्षोंके अभावमें वे अपनी आजीविका का निर्वाह कर सकें। सम्पूर्ण राज्यको छोड़कर और दिगम्बरी दीक्षा धारण करके तपस्या करते हुए शुक्लध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मोंका क्षय करके श्री वृषभ जिनने वीतराग और सर्वज्ञ बनकर भव्य जीवोंके कल्याणके लिए जीवादि तत्त्वोंका उपदेश दिया था और अन्तमें वे ब्रह्मपदरूप अमृत (मोक्ष)के स्वामी हुए।

द्वितीय तीर्थंकर श्री अजित जिनके प्रभावसे उनका बन्धुवर्ग अजेय शक्तिका धारक हुआ था। आज भी उनका नाम स्वकार्यसिद्धिकी कामना रखने वाले जनों के द्वारा मंगलके लिए लिया जाता है। उन्होंने महान् धर्मतीर्थका प्रणयन किया था। वे ब्रह्मनिष्ठ थे। उनके लिए शत्रु और मित्र एक समान थे। अन्तमें उन्होंने आत्मज्ञानके द्वारा रागादि दोषोंको दूर करके आत्मलक्ष्मीको प्राप्त किया था।

तृतीय तीर्थंकर श्री शंभव जिन सांसारिक दुःखोंसे पीड़ित जनोंके लिए आक-स्मिक वैद्य थे। उन्होंने मिथ्या अभिनिवेशके कारण जन्म, जरा, मृत्यु आदिके दुःखोंसे पीड़ित जगत्को निर्दोष शान्तिकी प्राप्ति करायी थी। बन्ध और मोक्ष, बन्ध और मोक्षके कारण तथा मुक्तिका फल इन सबकी व्यवस्था स्याद्वादी श्री शंभव जिनके मतमें ही बनती है, एकान्तवादियोंके मतमें नहीं। इसलिए श्री शंभव जिन शास्ता थे।

चतुर्थ तीर्थंकर श्री अभिनन्दन जिनने प्रारम्भमें क्षमाके साथ दयाका आश्रय लिया था। और अन्तमें समाधिकी सिद्धिके लिए दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करके दिगम्बरी दीक्षा धारण की थी। अर्हन्त अवस्था प्राप्त करने पर अपने उपदेश द्वारा उन्होंने मिथ्या अभिनिवेशके कारण पीड़ित जगत्को तत्त्वका ग्रहण कराया था। साथ ही यह भी बतलाया था कि विषयोंमें आसक्तिसे तृष्णाकी वृद्धि होती है। इस प्रकार श्री अभिनन्दन जिनका मत लोक कल्याणकारी है।

पंचम तीर्थंकर श्री सुमति जिनके स्तवनमें अनेक दार्शनिक तत्त्वोंकी विवेचना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की गयी है। यहाँ वस्तुतत्त्व को एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, विधि-निषेध इत्यादि प्रकारसे अनेक धर्मात्मक अथवा अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है। सर्वथा एकान्तवादमें समस्त क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। असत्की उत्पत्ति नहीं होती है और सत्का विनाश नहीं होता है। सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि धर्मोंमें विवक्षाके द्वारा मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है। इस प्रकार श्री सुमति जिनने तत्त्वका प्रणयन किया है।

षष्ठ तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ जिन रक्तवर्ण शरीरके धारक थे। सम्पूर्ण समवसरण सभामें उनके शरीरकी आभा व्याप्त थी। उनके गुणोंकी स्तुति करनेमें इन्द्र भी असमर्थ रहा है। उन्होंने प्रजा जनोंमें हेयोपादेयका विवेक जागृत करनेके लिए इस भूमण्डल पर बिहार किया था। वे भव्यरूप कमलोंके विकासके लिए सूर्यके समान थे। तथा केवलज्ञानरूप लक्ष्मी और दिव्यध्वनिरूप सरस्वतीके धारक थे।

सप्तम तीर्थंकर श्री सुपार्श्व जिनके स्तवनमें बतलाया गया है कि जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है वही पुरुषोंका स्वार्थ है, क्षणभंगुर भोग स्वार्थ नहीं है। जीवका यह शरीर जड़ है और जड़ यंत्रकी तरह पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त होता है। भवितव्यता अलंध्य है। यह संसारी प्राणी मृत्युसे डरता है, परन्तु उसे मृत्युसे छुटकारा नहीं मिलता है। और नित्य ही कल्याण चाहता है, फिर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती है। श्री सुपार्श्व जिन सर्व तत्त्वोंके प्रमाता और बालकको माताकी तरह लोकके हितानुशास्ता थे।

अष्टम तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ जिन चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौर वर्णके धारक थे। उनके शरीरकी दिव्य कान्तिसे बाह्य अन्धकार तथा ध्यानरूप प्रदीपके अतिशयसे मानस अन्धकार दूर हो गया था। उनके प्रवचनरूप सिंहनादोंको सुनकर एकान्तवादी जन उसी प्रकार गर्व रहित हो गये थे जिस प्रकार सिंहकी गर्जना सुनकर मदस्रावी हाथी मद रहित हो जाता है। वे लोकमें परमेष्ठी पदको प्राप्त हुए थे और उनका शासन समस्त दुःखोंका क्षय करनेवाला था।

नवम तीर्थंकर श्री सुविधि जिनके स्तवनमें अनेक दार्शनिक तत्त्वों को विवेचना की गयी है। यहाँ बतलाया गया है कि तत्-अतत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य इत्यादि रूप वस्तुतत्त्व प्रमाणसिद्ध है, और वह एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है। स्यात् शब्द की महिमाको बतलाते हुए कहा गया है कि इसके द्वारा अपेक्षाभेदसे एक ही वस्तु में सत्-असत् आदि विरोधी धर्मोंकी सिद्धि होती है। श्री सुविधि जिनका स्यात् पदयुक्त वाक्य मुख्य और गौणके भावको लिए हुए है तथा सर्वथा एकान्तवादियों के लिए अपथ्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशम तीर्थंकर श्री शीतल जिनके स्तवनमें बतलाया गया है, कि उनकी वाणी जितनी शीतल है उतना शीतल न तो चन्दन है, न चन्द्रमाकी किरणें हैं, न गंगा का पानी है और न मोतियोंकी मालायें हैं। लोकमें अन्य तपस्वी जन सन्तान, धन तथा स्वर्गादिकी प्राप्तिकी आकांक्षासे तपश्चरण करते हैं। किन्तु श्री शीतल जिनने आत्माकी विशुद्धिके मार्गमें जागृत रहकर जन्म, जरा और मरणके दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिए तपश्चरण किया था।

ग्यारवें तीर्थंकर श्री श्रेयांस जिनके स्तवनमें अनेक दार्शनिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। विधि और प्रतिषेध इन दोनोंमें से विवक्षाके अनुसार एक प्रधान होता है और दूसरा गौण होता है। विवक्षित धर्म मुख्य होता है और अविवक्षित धर्म गौण होता है। कोई भी वस्तु सत्-असत् आदि दो अवधियों (मर्यादाओं) से कार्यंकारी होती है। ऐसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु नहीं है जो सर्वथैकान्तकी नियामक हो। श्री श्रेयांस जिन चार घातिया कर्मों का क्षय करके कैवल्य विभति के सम्राट् हुए थे तथा उन्होंने प्रजाको श्रेयोमार्गमें अनुशासित किया था।

बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य जिन किसी की पूजा-स्तुति से प्रसन्न नहीं होते हैं और निन्दा से अप्रसन्न नहीं होते हैं। जिस प्रकार विष का एक कण अगाध समुद्र के जल को दूषित नहीं कर सकता है उसी प्रकार जिनेन्द्र की पूजा करते समय आरम्भ जनित जो अल्प पाप होता है वह बहुत पुण्यराशिमें दोष का कारण नहीं होता है। जो बाह्य वस्तु पुण्य और पापकी उत्पत्ति में निमित्त होती है वह आत्मामें होनेवाले शुभाशुभ परिणामरूप मूलहेतु (उपादान कारण) की सहकारी कारण है। निश्चयनयकी दृष्टिसे केवल अभ्यन्तर कारण (उपादान कारण) कार्योत्पत्तिमें समर्थ होता है। प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति बाह्य और अभ्यन्तर (निमित्त और उपादान) दोनों कारणोंकी समग्रतासे होती है। अन्यथा मोक्षकी विधि भी नहीं बन सकती है। श्री वासुपूज्य जिन जन्म कल्याणक आदि अभ्युदय क्रियाओंमें देवेन्द्रों के द्वारा पूजे गये थे और इसीकारण वे सदा ही बुध जनोंके द्वारा वन्दनीय हैं।

तेरहवें तीर्थंकर श्री विमल जिन के स्तवन में बतलाया गया है कि जो नय परस्पर में निरपेक्ष हैं वे स्वपरप्रणाशी हैं और सापेक्ष नय अपने और परके उपकारी हैं। वस्तुमें सामान्य और विशेषकी उसी प्रकार पूर्णता है जिस प्रकार बुद्धिलक्षण प्रमाण स्वपरप्रकाशकके रूपमें पूर्णता को प्राप्त होता है। स्यात् पदके प्रयोग द्वारा विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका परिहार हो जाता है। जिस प्रकार पारा आदि रस से अनुविद्ध धातुएँ अभिमत फल देती हैं उसीप्रकार स्यात् पदसे चिह्नित नय अभिमत अर्थ की सिद्धि करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्त जिनके द्वारा अनन्त दोषोंका आश्रय मोहरूप पिशाच जीत लिया गया है। उन्होंने कामदेव के आतंकको समाधि के द्वारा नष्ट किया था तथा कषाय रूप शत्रुओं का नाश करके वे सर्वज्ञ हुए थे। उन्होंने अपनी तृष्णा नदीको अपरिग्रहरूप सूर्य की किरणोंसे सुखा दिया था। जो व्यक्ति श्री अनन्त जिन में अनुराग रखता है वह सौभाग्यको प्राप्त होता है और जो द्वेष रखता है वह विनाशको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार अमृत-समुद्रका संस्पर्श कल्याणकारक है उसी प्रकार श्री अनन्त जिन के थोड़ेसे गुणोंका कीर्तन भी जीवों के कल्याण का हेतु होता है।

पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्म जिन ने अनवद्य धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया था और तपरूप अग्निके द्वारा कर्मरूप वनको जलाया था। यद्यपि वे अष्ट प्रातिहार्यों और समवसरणादि विभूतियोंसे विभूषित थे, फिर भी शरीरसे भी विरक्त होकर और शासनके फल की आकांक्षाके बिना ही उन्होंने मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया था। उनके मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं हुई थीं और असमीक्ष्यकारित्वके रूप में भी नहीं हुई थीं। वे मानुषी प्रकृतिका उल्लंघन कर गए थे। वे देवताओंके भी देवता थे और इसी कारण परमदेवता के पद को प्राप्त हुए थे।

सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्ति जिन शत्रुओंके लिए भयंकर सुदर्शन चक्रसे सर्वनरेन्द्र चक्र को जीत कर चक्रवर्ती राजा बने थे और समाधि चक्रसे दुर्जय मोह-चक्र को जीत कर महोदय को प्राप्त हुए थे। उनके चक्रवर्ती राजा होने पर राज-चक्र, मुनि होने पर धर्मचक्र और पूज्य होने पर देवचक्र बद्धाञ्जलि हुआ था। तथा अन्त में ध्यानके सन्मुख होने पर कृतान्तचक्र नाश को प्राप्त हुआ था। श्री शान्ति जिनने पहले अपने रागादि दोषों को शान्त करके आत्मशान्ति प्राप्त की थी और इसके बाद ही वे शरणागत मनुष्योंके लिए शान्ति के विधाता हुए थे।

सत्रहवें तीर्थंकर श्री कुन्थु जिन कुन्थु आदि समस्त जीवों पर परम दयालु थे। वे पहले चक्रवर्ती राजा हुए और बादमें प्रजा जनोंके कल्याणके जिए उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। उन्होंने बतलाया था कि विषय भोगोंसे तृष्णा की वृद्धि होती है, शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। और इसी कारण वे विषय सौख्यसे परान्मुख हो गये थे। वे ध्यानाग्नि में घातिया कर्मोंको भस्म करके सकल वेदविधि-के प्रणेता बने थे। लोकमें जो पितामहादि प्रसिद्ध देवता हैं वे श्री कुन्थु जिनकी विद्या और विभूति की एक कणिका को भी प्राप्त नहीं कर सके थे।

अठारहवें तीर्थंकर श्री अर जिन चक्रवर्ती राजा थे। उन्होंने मुमुक्षु होने पर सम्पूर्ण साम्राज्यको जीर्ण तृण के समान छोड़ दिया था। उनके रूपसौन्दर्य को दो नेत्रों से देखकर इन्द्र तृप्त नहीं हुआ और उसे सहस्राक्ष बनना पड़ा। उनके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामने कामदेव को भी लज्जित होना पड़ा था तथा अन्तक (यम) को भी अपना स्वच्छन्द व्यवहार बन्द करना पड़ा था। उनका बाह्य रूप आभूषणों, वेषों और आयुधों का त्यागी था तथा विद्या, दम और दया में तत्पर था। सर्वभाषाओंमें परिणत होनेवाला उनका वचनामृत सर्वप्राणियों को तृप्ति प्रदान करता था। श्री अर जिन ने बतलाया था कि अनेकान्त दृष्टि ही सच्ची है और इसके विपरीत एकान्तदृष्टि शून्य (असत्) है। सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप जो नय पक्ष हैं वे सर्वथा रूपमें तो अत्यन्त दूषित हैं और स्यात् रूपमें पुष्टि को प्राप्त होते हैं। क्योंकि स्यात् शब्द सर्वथानियम का त्यागी है। प्रमाण और नय के द्वारा अनेकान्तमें भी अनेकान्त की सिद्धि होती है। इस प्रकार श्री अर जिनका शासन निरुपम और सर्वथा युक्तिसंगत है।

उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लि जिन को जब सम्पूर्ण पदार्थों का केवलज्ञान हुआ तब समस्त जगत् ने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया था। उनकी शरीराकृति सुवर्णनिर्मित जैसी थी। उनकी वाणी भी स्यात्पदपूर्वक यथार्थ वस्तुतत्त्व का निरूपण करनेवाली और साधुजनों को रमाने वाली थी। उनके समक्ष एकान्त-वादी जनों का मान गलित हो गया था। इसी कारण वे पृथिवी पर विवाद नहीं करते थे। श्री मल्लि जिनका शासन संसार समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको पार उतरनेके लिए श्रेष्ठ मार्ग था। वे जिनसिंह, कृतकृत्य और अशल्य थे।

बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत जिन मुनियोंकी सभामें अत्यन्त शोभा को प्राप्त हुए थे। उनका शरीर तरुण मयूरके कण्ठवर्ण जैसी आभासे शोभित तथा मदनके निग्रहका सूचक था। इसके साथही वह श्वेत रुधिर से युक्त, अत्यन्त सुग-न्धित, रजरहित, शिवस्वरूप तथा आश्चर्यकारी था। उनके वचन तथा मनकी प्रवृत्ति भी शिवस्वरूप और आश्चर्यजनक थी। उनका यह वचन कि चर और अचर यह जगत् प्रतिक्षण स्थिति, जनन और निरोध (ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय) स्वरूप है, उनकी सर्वज्ञता का द्योतक है। श्री मुनिसुव्रत जिन अनुपम योग बलसे आठों कर्मोंको नष्ट करके अतीन्द्रिय मोक्ष सुखको प्राप्त हुए थे।

इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमि जिन ने शुद्ध आत्मस्वरूपमें चित्त को एकाग्र करके पुनर्जन्मके बन्धनको नष्ट कर दिया था तथा उनमें केवलज्ञानरूप ज्योतिके प्रकाशित होने पर एकान्तवादी जन हतप्रभ हो गये थे। उन्होंने वस्तुतत्त्वको अन्योन्यापेक्ष अनेक नयोंकी अपेक्षासे विधेय, प्रतिषेध्य, उभय, अनुभय आदि सप्त-भंगरूप बतलाया था। उन्होंने अहिंसा को जगत् में परम ब्रह्म बतलाने के साथ यह भी कहा था कि जिस आश्रम विधिमें अणुमात्र भी आरम्भ होता है वहाँ अहिंसा नहीं हो सकती है। इसी कारण उन्होंने उस परम ब्रह्मरूप अहिंसा की सिद्धिके लिए दोनों प्रकारके परिग्रह का त्याग कर दिया था। आभूषण, वेष तथा व्यवधान-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(आवरण) से रहित उनका शरीर कामदेव पर विजय का सूचक था और उन्होंने भयंकर शस्त्रोंके बिना ही क्रोधादि कषायरूप शत्रुओं का विनाश किया था।

बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि जिन हरिवंशकेतु, दीर्घ नेत्रोंके धारक तथा दमतीर्थके नायक थे। उन्होंने परम योगरूप अग्निसे ज्ञानावरणादि रूप कर्म-काष्ठ को भस्म करके विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को करतल स्थित स्फटिक मणिके समान युगपत् जाना था। वे शीलके समुद्र थे। उनके चरण कमल इन्द्रादि द्वारा वन्दित थे। श्रीकृष्ण तथा बलरामने अपने बन्धुवर्ग के साथ स्वजन भक्तिवश उनके चरणों को बारम्बार प्रणाम किया था। मंत्रमुखर महर्षिजन अपने कल्याण के लिए उनके चरणकमलों को प्रणाम करते थे। सौराष्ट्रमें लोकप्रसिद्ध गिरनार पर्वत है, जिसपर श्री नेमि जिन ने दिगम्बरी दीक्षा धारण करके तपस्या की थी और उसी पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया था। इसी कारण वह पर्वत तीर्थस्थान है और वह आज भी ऋषियों द्वारा निरन्तर सेवित है।

तेईसवें तीर्थंकर उग्रवंशी श्री पार्श्व जिन महामना थे। इसीलिए वे पूर्वके वैरी कमठके जीव द्वारा भयंकर मेघोंके रूपमें किए गये घोर उपसर्गसे उपद्रवग्रस्त होने पर भी अपने ध्यानरूप योगसे विचलित नहीं हुए थे। उस समय पूर्वकृत उपकारवश धरणेन्द्र नामक नागकुमार जाति के देवने उपसर्ग निवारणके लिए विक्रिया द्वारा नागका रूप धारण करके श्री पार्श्व जिन के ऊपर बृहत्फणाओं का मण्डप बना लिया था। तदनन्तर उन्होंने शुक्लध्यानके द्वारा चार घातिया कर्मों का नाश करके अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त कर लिया था। वे विधूतकल्मष, शमोप-देशक तथा जगत्के ईश्वर थे। अतः पञ्चाग्नितप आदि निष्फल क्रियाएं करने वाले वनवासी तपस्वी भी उनकी शरणमें आये थे। वे सत्य विद्याओं और तपस्याओंके प्रणेता थे तथा उन्होंने एकान्तवादरूप मिथ्यामार्गोंकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होनेवाले विभ्रमोंको नष्ट कर दिया था।

चौबीसवें तीर्थङ्कर श्री वीर जिन अपनी निर्मल कीर्तिसे इस भूमण्डल पर शोभायमान हुए थे। उनके शासनका माहात्म्य इस कलिकालमें भी जयवन्त है। प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरोध रहित होनेके कारण उनका स्याद्वाद निर्दोष है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरोध आनेके कारण अस्याद्वादियोंका कथन सदोष है। वे सुर और असुरोंसे पूजित थे तथा तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिए परम हितकारी थे। उन्होंने मायारहित यम और दमका उपदेश दिया था। श्री वीर जिनने अपने विहारके समय सब प्राणियों-को अभयदान दिया था और आगमोंकी रक्षा की थी। श्री वीर जिनका शासन नयों के भङ्गरूप अलंकारोंसे अलंकृत होनेके कारण बहुगुण सम्पत्तिसे युक्त, पूर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और सबका कल्याण करनेवाला है। इसके विपरीत जो पर मत है वह मधुर वचनोंके विन्यासके मनोज्ञ होने पर भी बहुगुण सम्पत्तिसे विकल होने के कारण अपूर्ण है तथा लोकका कल्याणकारी नहीं है।

स्वयम्भूस्तोत्र यद्यपि मुख्य रूपसे भक्तिपरक ग्रन्थ है, फिर भी इसमें ज्ञान-योग और कर्मयोगका भी दिग्दर्शन उपलब्ध होता है। कुछ लोग भक्तियोगको, अन्य लोग ज्ञानयोगको तथा दूसरे लोग कर्मयोगको मोक्षका मार्ग मानते हैं। किन्तु जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। वह तो उक्त तीनों योगोंके समन्वयको मोक्षका मार्ग मानता है। हम भक्तियोगको सम्यग्दर्शन, ज्ञानयोगको सम्यग्ज्ञान और कर्म-योगको सम्यक्चारित्र कह सकते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी समग्रता (पूर्णता) ही मोक्षका मार्ग है।

भक्तियोग :

संसारी प्राणी कर्मकलंकसे आवृत होनेके कारण अपनी आत्माके ज्ञानादि गुणोंका विकास नहीं कर पाता है। फिर भी उनमें कुछ ऐसे भव्य जीव होते हैं जो काललब्धि आदि अनुकूल साधनोंके मिलने पर आत्मविकासके पथ पर चलते हुए पाँच परम पदोंको प्राप्त कर लेते हैं। ये पाँच परम पद हैं—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनको पञ्च परमेष्ठी कहते हैं। पाँचों परमेष्ठी हमारे आराध्य हैं, पूज्य हैं और स्तुत्य हैं। सिद्ध परमेष्ठी अष्ट कर्म रहित होनेसे पूर्ण विकसित आत्मा हैं। अरहन्त परमेष्ठी चार घातिया कर्म रहित होनेसे बहु-विकसित आत्मा हैं। तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु अल्प विकसित आत्मा हैं। इनके अतिरिक्त अन्य संसारी प्राणी अविकसित आत्मा हैं।

अरहन्त और सिद्ध देव हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं। जिन-मुखसे उद्भूत दिव्यध्वनिरूप जिनवाणी शास्त्र या आगम है। देव, शास्त्र और गुरुकी सच्ची श्रद्धाके साथ विनय करना, भक्ति करना और स्तुति करना भक्ति-योग है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, आराधना, सेवा और श्रद्धा ये सब भक्तिके ही अनेक रूप हैं। अपनी आत्माके हित और विकासके इच्छुक जीवोंको देव, शास्त्र और गुरुकी शरणमें जाना चाहिए, उनके गुणोंका कीर्तन करना चाहिए और उनके द्वारा बतलाये हुए मार्ग पर चलना चाहिए। ऐसा करनेसे भक्त भी उन्हींकी तरह बननेका प्रयत्न करते हुए किसी समय उन्हीं जैसा परमेष्ठी बन सकता है।

स्वयम्भूस्तोत्रमें आचार्य समन्तभद्रने अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है। शुद्धात्माओंके प्रति समन्तभद्र अत्यन्त विनम्र और उनके गुणोंमें तीव्र अनुरागी थे। यह बात उनके द्वारा रचित स्तुति ग्रन्थोंसे भलीभाँति ज्ञात हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है। यथार्थमें चित्त वही है जो जिनेन्द्रका स्मरण करता है, वाणी वही है जो जिनेन्द्रका स्तवन करती है और मस्तक वही है जो जिनेन्द्रके चरणोंमें नत रहता है। आचार्य समन्तभद्रने अपनेको चौबीस तीर्थंकरोंकी भक्तिके लिए समर्पित कर दिया था। जिनेन्द्रमें उनकी जो श्रद्धा थी वह अन्ध श्रद्धा न होकर सम्यक् श्रद्धा थी। इस प्रकारका भक्तियोग सम्यग्दर्शनके बिना नहीं हो सकता है। अतः भक्तियोगको सम्यग्दर्शन कहना सर्वथा उचित है।

ज्ञानयोग :

जीवादि तत्त्वोंका, मोक्षमार्गका, आत्माके शुद्धस्वरूपका, संसारके स्वरूपका, देह और भोगोंका, रागादि दोषोंका, आत्माकी विभाव परिणतिका तथा विभावों-को दूर कर स्वभावमें स्थित होनेका जो ज्ञान है वही ज्ञानयोग है और यही सम्यग्ज्ञान है। स्वयम्भूस्तोत्रमें ऐसे अनेक कथन हैं जिनके द्वारा ज्ञानयोग पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

हेय और उपादेय तत्त्वोंको जानकर ममत्वसे विरक्त होना, परिग्रहका त्याग कर जिनदीक्षा लेना, यह जगत् अनित्य है, अशरण है, जन्म-जरा-मरणके दुःखोंसे युक्त है, विषय सुख बिजलीके समान चंचल हैं, विषयासक्तिसे तृष्णाकी वृद्धि होती है, समाधिकी सिद्धिके लिए उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग आवश्यक है, मुमुक्षु होने पर चक्रवर्तीका समस्त वैभव और साम्राज्य जीर्ण तृणके समान मालूम पड़ता है, प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अनेकान्तक वस्तुतत्त्व प्रमाणसे अबाधित है, विधि और निषेधमें अपेक्षा भेदसे मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है, निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय सम्यक् हैं, अनेकान्तदृष्टि सती है और एकान्तदृष्टि असती है, अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, संसारका प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक क्षणमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, अहिंसा परम ब्रह्म है, धर्मतीर्थ संसार समुद्रसे पार उतरनेका श्रेष्ठ मार्ग है, इत्यादि अनेक कथनों द्वारा स्वयम्भूस्तोत्रमें ज्ञानयोग को बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनोंमें अर्हन्त पर-मेष्ठीके गुणोंका जो परिचय प्राप्त होता है वह भी ज्ञानयोग ही है। इस प्रकार स्वयम्भूस्तोत्र ज्ञानयोगका भी प्रतिपादक है।

कर्मयोग :

आत्मविकासके लिए मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिरूप अथवा निवृत्तिरूप जो कर्म या आचरण किया जाता है वह कर्मयोग है। इस प्रकार कर्मयोगके दो भेद होते हैं—प्रवृत्तिरूप कर्मयोग और निवृत्तिरूप कर्मयोग। प्रवृत्तिरूप कर्मयोग में शुभ कार्योंमें मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति होती है तथा निवृत्तिरूप कर्मयोग में तीनों योगोंकी क्रियाका निरोध होता है। कर्मयोगका अन्तिम लक्ष्य है आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का पूर्ण विकास। अतः इस विकासको करनेके लिए पहले प्रवृत्तिरूप कर्मयोग सम्बन्धी क्रियायें और तदनन्तर निवृत्तिरूप कर्मयोग सम्बन्धी क्रियायें करना आवश्यक है। प्रत्येक संसारी जीव आठ प्रकारके कर्मबन्धनसे बद्ध है। इस कर्मबन्धन को दूर करना अथवा ध्यानयोगरूप अग्निके द्वारा कर्ममल को जला कर भस्म कर देना ही कर्मयोगका लक्ष्य है। कर्मयोगका प्रारम्भ मुमुक्षु बननेके साथ होता है और उसकी समाप्ति शुक्लध्यानके द्वारा समस्त कर्मोंका क्षय करके मोक्ष पद की प्राप्ति होने पर होती है। कर्मयोगके चार अंग हैं—दया, दम, त्याग और समाधि। यम, नियम, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, इन्द्रियजय, कषायजय, तप, ध्यान आदि कर्मयोगके ही विविध रूप हैं। स्वयम्भूस्तोत्रमें इन सबका विवेचन दृष्टिगोचर होता है। अतः यह स्तोत्र कर्मयोगका भी प्रतिपादक है। और कर्मयोगका नाम ही सम्यक्चारित्र है।

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रके स्तुति परक ग्रन्थोंमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग इन तीनोंका समन्वय पाया जाता है। तथा आचार्य समन्तभद्र स्वयं उच्चकोटिके भक्तियोगी, ज्ञानयोगी और कर्मयोगी थे।

स्वयम्भूस्तोत्रका रचनास्थल—वाराणसी :

श्रीब्रह्मनेमिदत्त कृत आराधनाकथाकोषमें बतलाया गया है कि पूर्वकर्मके उदयसे आचार्य समन्तभद्रको भस्मकव्याधि नामक रोग हो गया था। इस रोगमें कितना ही भोजन करने पर भी क्षुधाकी शान्ति नहीं होती है। क्योंकि जो कुछ भी खाया जाता है वह सब भस्म हो जाता है। मुनि अवस्थामें उस व्याधिका प्रतिकार संभव नहीं था। अतः आचार्य समन्तभद्रने अपने गुरुसे सल्लेखना धारण करने की आज्ञा माँगी। किन्तु भविष्यदृष्टा गुरुने उनके द्वारा भविष्यमें जैनधर्मकी महती प्रभावना होनेकी संभावनाको ध्यानमें रखकर सल्लेखना धारण करने की आज्ञा नहीं दी। गुरुने कहा—"तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेषको धारण कर सकते हो। मैं प्रसन्नतासे तुम्हें इस बातकी आज्ञा देता हूँ। रोगके उपशान्त होनेपर पुनः दिगम्बरी दीक्षा धारण कर लेना।" तब विवश होकर आचार्य समन्तभद्रने दिगम्बरी दीक्षा छोड़कर तथा अपने शरीर पर भस्म लपेट कर अन्य साधुका वेष धारण कर लिया। अपवाद मार्गको स्वीकार करनेके बाद वे दक्षिण भारतसे उत्तर भारतकी ओर भ्रमण करते हुए वाराणसी पहुँचे। उन्होंने मार्गमें परिस्थितिके अनुसार अनेक वेष धारण किये। कहीं बौद्ध भिक्षुकका वेष धारण किया तो कहीं भागवत वेष धारण किया। वाराणसीमें समन्तभद्र शैवसाधुके वेषमें राजा शिवकोटिके शिवालयमें पहुँचे। उस शिव मन्दिरमें भोगके लिए मिष्टान्न तथा फलादि बहुत सामग्री चढ़ायी जाती थी। शिव भोगके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चढ़ायी गयी विशाल सामग्रीको देखकर समन्तभद्रने सोचा कि यदि यह सामग्री मुझे मिल जाय तो इससे मेरी क्षुधाकी शान्ति हो सकती है। अतः उन्होंने शिव मन्दिरके प्रबन्धकोंसे कहा कि मैं इस भोग सामग्रीको शिवमूर्तिको खिला सकता हूँ। इस बातसे प्रसन्न होकर शिव मन्दिरके प्रबन्धकोंने उन्हें मन्दिरमें रहनेकी स्वीकृति दे दी। इस प्रकार समन्तभद्र अपनी चतुराईसे पुजारीके रूपमें शिव मन्दिरमें रहने लगे और मन्दिरका दरवाजा अन्दरसे बन्द करके उस विशाल भोग सामग्रीको स्वयं खाने लगे। बादमें दरवाजा खोलकर लोगोंको बता दिया करें कि देखो शिवजीने भोग ग्रहण कर लिया है।

ऐसा करते हुए कुछ दिनमें उनकी व्याधि शान्त हो गयी। तब भोग सामग्री बचने लगी। ऐसी स्थितिमें कुछ लोगोंने वाराणसीके राजासे शिकायत कर दी कि यह पुजारी न तो शिवभक्त है और न शिवजीको भोग सामग्री खिलाता है। इस बातको सुनकर राजा क्रोधित होकर वहाँ आया और समन्तभद्रसे कहा कि शिवमूर्तिको नमस्कार करो अन्यथा दण्ड भुगतनेको तैयार रहो। इसके उत्तरमें समन्तभद्रने कहा कि यह मूर्ति मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकेगी। किन्तु राजाका तीव्र आग्रह देखकर वे उपसर्ग निवारणार्थ शिवमूर्तिके समक्ष बैठकर वृषभादि चौबीस तीर्थङ्करोंका स्तवन करने लगे। सात तीर्थङ्करोंके स्तवनके बाद जब वे आठवें तीर्थङ्कर श्री चन्द्रप्रभ जिनका स्तवन कर रहे थे तब शिवपिण्डी फट गयी और उसमेंसे चन्द्रप्रभ भगवान्की मूर्ति प्रकट हुई। इस चमत्कार पूर्ण घटनाको देखकर वहाँ उपस्थित राजा सहित सब लोगोंने जैनधर्मका जय-जयकार किया और वे लोग जैनधर्मसे प्रभावित होकर उसके अनुयायी हो गये। इस प्रकार जैनधर्मकी महती प्रभावना हुई। अन्तमें राजा शिवकोटिने अपने पुत्र श्रीकंठको राज्य सौंपकर अपने भाई शिवायनके साथ दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली और आचार्य समन्तभद्रके शिष्य हो गये। आचार्य समन्तभद्रने शिवमूर्तिके सामने बैठकर जिस स्तोत्रकी रचना की थी वही स्तोत्र स्वयम्भूस्तोत्रके नामसे प्रसिद्ध है।

वाराणसीमें पहले उक्त शिव मन्दिर विशाल रहा होगा। किन्तु वर्तमानमें वह शिव मन्दिर एक मढ़ियाके रूपमें चौकके निकट बाँसफाटक पर सड़कके किनारे स्थित है। उसमें जो शिवलिंग है वह बीचसे फटा हुआ है। इस कारण उसे आज भी फटे महादेव कहा जाता है। उस मन्दिर पर समुद्रेश्वर महादेव लिखा हुआ है। संभवतः पहले उसका नाम समन्तभद्रेश्वर महादेव रहा होगा और कालान्तर में उसका अपभ्रंश रूप समुद्रेश्वर महादेव हो गया।

आचार्य समन्तभद्रको भस्मकव्याधि रोग हो गया था और उन्होंने अपने मंत्रबल या योगबलसे चन्द्रप्रभ भगवान्की मूर्तिको बुला लिया था, इस बातकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुष्टि श्रमणबेलगोलके शिलालेख नं० ५४के द्वारा भी होती हैं। इस शिलालेखको मल्लिषेण प्रशस्ति भी कहते हैं और यह शक सम्वत् १०५० में उत्कीर्ण हुआ है। वह शिलालेख इस प्रकार है—

वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपदस्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः ।
आचार्यस्सुसमन्तभद्रगणभृद् येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

स्वयम्भूस्तोत्रके रचयिता आचार्य समन्तभद्र :

समन्तभद्रका व्यक्तित्व :

युगप्रधान आचार्य समन्तभद्र स्याद्वादविद्याके संजीवक तथा प्राणप्रतिष्ठापक रहे हैं। उन्होंने अपने समयके समस्त दर्शनशास्त्रोंका गंभीर अध्ययन करके उनका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि वे समस्त दर्शनों अथवा वादों का युक्तिपूर्वक परीक्षण करके स्याद्वादन्यायके अनुसार उन वादोंका समन्वय करते हुए वस्तुतत्त्वके यथार्थ स्वरूप को बतलानेमें समर्थ हुए थे। इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने युक्त्यनुशासन की टीकाके अन्तमें—

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः ।
साक्षात् स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिः तत्त्वं समीक्ष्याखिलम् ॥

इस वाक्यके द्वारा आचार्य समन्तभद्रको परीक्षेण अर्थात् परीक्षारूपी नेत्रसे सबको देखनेवाला कहा है। यथार्थमें समन्तभद्र बहुत बड़े युक्तिवादी और परीक्षा-प्रधान आचार्य थे। उन्होंने भगवान् महावीर की युक्तिपूर्वक परीक्षा करनेके बाद ही उन्हें आप्तके रूपमें स्वीकार किया है। उनका कहना था कि किसी भी तत्त्व या सिद्धान्त को परीक्षा किये बिना स्वीकार नहीं करना चाहिए और समर्थ युक्तियोंसे उसकी परीक्षा करनेके बाद ही उसे स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए।

समन्तभद्र परीक्षाप्रधान आचार्य तो थे ही, किन्तु उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता नामक गुण भी विद्यमान थे। उन्हें आद्य स्तुतिकार होनेका गौरव प्राप्त है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें रत्नकरण्डश्रावकाचार को छोड़कर आप्तमीमांसा आदि चारों ग्रन्थ स्तुतिपरक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें अपने इष्टदेव की स्तुतिके व्याज (बहाना) से उन्होंने समस्त एकान्तवादों की आलोचना करके अनेकान्तवाद की स्थापना की है। वे स्वामी पदसे विभूषित थे। स्वामी उनका उपनाम हो गया था। इसी-कारण विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे अनेक आचार्यों तथा पं० आशाधर जैसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वानोंने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर केवल स्वामी पदके प्रयोग द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। उन्होंने अपने जन्मसे इस भारत भूमि को पवित्र किया था। इसीलिए शुभचन्द्राचार्यने पाण्डवपुराणमें उनके लिए जो 'भारतभूषण' विशेषणका प्रयोग किया है[1] वह सर्वथा उचित है।

यद्यपि आचार्य समन्तभद्रमें अनेक गुण विद्यमान थे किन्तु उन गुणोंमें वादित्व, गमकत्व, वाग्मित्व और कवित्व ये चार गुण तो उनमें परम प्रकर्ष को प्राप्त थे। उस समय जितने वादी (शास्त्रार्थ करनेमें प्रवीण) थे, गमक (दूसरे विद्वानों की रचनाओंको स्वयं समझने और दूसरों को समझानेमें समर्थ) थे, वाग्मी (अपने वचनचातुर्यसे दूसरों को वशमें करनेवाले) थे और कवि (काव्य या साहित्य की रचना करनेवाले) थे, आचार्य समन्तभद्र उन सबमें शिर पर चूड़ामणिके समान सर्वश्रेष्ठ थे। इसीलिए जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें कहा है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥

आचार्य समन्तभद्र सबसे बड़े वादी थे। उनके वाद का क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्षका भ्रमण किया था और सर्वत्र ही उन्हें वादमें विजय प्राप्त हुई थी। वे कभी इस बात की प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे। इसके विपरीत उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा वादशालाका पता चलता था तो वे वहाँ पहुँच कर और वादका डंका बजाकर विद्वानों को वादके लिए स्वतः आमंत्रित करते थे। वहाँ स्याद्वाद-न्याय की तुलामें तुले हुए उनके युक्तिपूर्ण भाषण को सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे और किसी को भी उनका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके प्रायः सभी प्रमुख स्थानों में एक अप्रतिद्वन्दी सिंहके समान निर्भयताके साथ वादके लिए घूमे थे। एक बार वे भ्रमण करते हुए करहाटक (महाराष्ट्रमें कोल्हापुर) नगरमें पहुँचे थे और उन्होंने वहाँके राजाके समक्ष अपना वादविषयक जो परिचय दिया था वह श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे उपलब्ध है—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

वे करहाटक पहुँचनेसे पहले पाटलिपुत्र (पटना), मालव, सिन्धु, ठक्क (पंजाब), कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (विदिशा) में पहुँच चुके थे।

---

१. समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य समन्तभद्रके देशाटनके सम्बन्धमें एम० एस० रामस्वामी आयंगर अपनी Studies in South Indian Jainism नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े धर्म प्रचारक थे, जिन्होंने जैन सिद्धान्तों और जैन आचारों को दूर-दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उपयोग किया है। और जहाँ कहीं भी वे गये उन्हें दूसरे सम्प्रदायों की ओरसे किसी भी विरोधका सामना नहीं करना पड़ा।"

आचार्य समन्तभद्र वाराणसी भी आये थे। एक शिलालेखमें उनका स्तवन इस प्रकार किया गया है—

समन्तभद्रः संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः॥

अर्थात् वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके द्वारा संस्तुत्य नहीं हैं जिन्होंने वाराणसी के राजाके समक्ष शत्रुओं (जिनशासनसे द्वेष रखने वाले प्रतिवादियों) को पराजित किया था।

काशी नरेशके समक्ष अपना परिचय देते हुए उन्होंने कहा था—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहम्
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥

हे राजन्! मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, वादियों में श्रेष्ठ हूँ, पण्डित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, मान्त्रिक हूँ, तान्त्रिक हूँ, अधिक क्या, इस सम्पूर्ण पृथिवीमें मैं आज्ञासिद्ध और सिद्धसारस्वत हूँ।

आचार्य समन्तभद्रके उक्त दश विशेषणोंमेंसे अन्तिम दो विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आज्ञासिद्धका अर्थ है कि जो आज्ञा दें अर्थात् कहें वही हो जाय। सिद्धसारस्वतका अर्थ है कि उन्हें सरस्वती देवी सिद्ध थी। आचार्य समन्तभद्रकी सफलता अथवा विजयका रहस्य इसीमें छिपा हुआ है। उनके वचन स्याद्वाद रूपी तुलामें तुले हुए होते थे। दूसरोंको कुमार्ग पर चलते हुए देखकर उन्हें बड़ा ही कष्ट होता था। अतः आत्महित साधनके साथ ही दूसरोंका हित साधन करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था।

अकलंकदेवने अष्टशतीके प्रारम्भमें यह स्पष्ट घोषित किया है[1] कि समन्तभद्र-

१. तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेः
भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के वचनोंसे उस स्याद्वादरूप पुण्योदधि तीर्थका प्रभाव कलिकालमें भी भव्य जीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिए सर्वत्र व्याप्त हुआ है और वह सर्व पदार्थों तथा तत्त्वोंको अपना विषय किये हुए है। उन्होंने समन्तभद्रको भव्यैकलोकनयन अर्थात् भव्य जीवोंके हृदयोंमें स्थित अज्ञानान्धकारको दूर करके अन्तःप्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलानेवाला अद्वितीय सूर्य और स्याद्वाद मार्गका पालक भी बतलाया है[1]। शिवकोटि आचार्यने समन्तभद्रको भगवान् महावीरके शासनरूप समुद्रको बढ़ानेवाला चन्द्रमा लिखा है[2]। वीरनन्दी आचार्यने चन्द्रप्रभचरितमें लिखा है कि मोतियोंकी मालाकी तरह समन्तभद्र आदि आचार्योंकी भारती दुर्लभ है[3]।

समन्तभद्रका जन्मस्थान, कुल आदि :

उपरिलिखित उल्लेखोंसे आचार्य समन्तभद्रके व्यक्तित्वका ज्ञान पूर्णरूपसे हो जाता है। फिर भी यह जिज्ञासा बनी ही रहती है कि इतने प्रभावशाली मूर्धन्य आचार्यका जन्म कहाँ हुआ था, उनके माता-पिता कौन थे, उनका कुल, जाति आदि क्या थी। इन प्रश्नोंका उत्तर सरल नहीं है। इसका कारण यह है कि अपनी ख्यातिकी चाहसे निरपेक्ष प्राचीन आचार्योंने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना कुछ भी परिचय नहीं लिखा है। फिर भी उपलब्ध अन्य किंचित् सामग्रीके आधार पर समन्तभद्रके विषयमें जो थोड़ी-सी जानकारी मिली है वह इस प्रकार है।

श्रवणबेलगोलके विद्वान् श्री दोर्बलि जिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित आप्तमीमांसाकी एक ताडपत्रीय प्रतिके निम्नलिखित पुष्पिका वाक्य—

"इति श्रीफणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामी समन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।" से ज्ञात होता है कि समन्तभद्र फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुरके राजाके पुत्र थे। उरगपुर चोल राजाओंकी प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी रही है। पुरानी त्रिचनापल्ली भी इसीको कहते हैं। कन्नड़ भाषाकी 'राजावली कथे' के अनुसार समन्तभद्रका जन्म उत्पलिका ग्राममें हुआ था। संभव है कि उत्पलिका उरगपुरके अन्तर्गत ही कोई स्थान हो। उनके पिता

---

१. श्रीवर्धमानमकलंकमनिन्द्यवन्द्य–
पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्॥—अष्टशती

२. जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः।—रत्नमाला

३. गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक राजा थे। अतः इतना निश्चित है कि समन्तभद्र एक राजपुत्र थे और दक्षिण-के निवासी थे। उनका प्रारम्भिक नाम शान्तिवर्मा था। श्री डॉ० पं० पन्नालालजी ने रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें लिखा है कि समन्तभद्रस्वामी द्वारा विरचित स्तुतिविद्याके अन्तिम पद्यसे 'शान्तिवर्मकृतं जिनस्तुतिशतं' ये दो पद निकलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि स्तुतिविद्याके रचयिता शान्तिवर्मा थे। ये शान्तिवर्मा कोई दूसरे नहीं किन्तु आचार्य समन्तभद्र ही थे।

समन्तभद्र आत्मसाधना और लोकहितकी भावनासे ओतप्रोत थे। अतः वे कांची (दक्षिण काशी) में जाकर दिगम्बर साधु बन गये थे। उन्होंने निम्नलिखित परिचय पद्य में—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशिधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

अपनेको कांचीका नग्नाटक (नग्न साधु) और जैन निर्ग्रन्थवादी लिखा है। उक्त पद्यसे यह भी प्रतीत होता है भस्मक व्याधि नामक रोग हो जाने पर उनको कुछ दूसरे वेष भी धारण करना पड़े थे। वे वाराणसीमें शिवके समान उज्ज्वल पाण्डुर अंग (भस्म लपेटे हुए) तपस्वी (शैव साधु) के वेषमें रहे थे। किन्तु वे सब वेष परिस्थितिवश अस्थायी थे। अतः भस्मकव्याधि रोगकी उपशान्ति हो जाने पर समन्तभद्रने पुनः दिगम्बर साधुका वेष धारण कर लिया था।

समन्तभद्रका समय :

आचार्य समन्तभद्रके समयके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वान् समन्तभद्रको पूज्यपाद देवनन्दि (पञ्चम शताब्दी) के बादका मानते हैं, तो दूसरे विद्वान् पञ्चम शताब्दीके पहले का। किन्तु प्रसिद्ध अन्वेषक और इतिहासज्ञ विद्वान् (स्व०) जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक महानिबन्धमें सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि समन्तभद्र तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छके बाद तथा पूज्यपादके पहले विक्रमकी दूसरी या तीसरी शताब्दीमें हुए हैं। पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (४।५।१४०) सूत्रके द्वारा समन्तभद्रका उल्लेख किया है। अतः समन्तभद्र पूज्यपादसे निश्चित ही पूर्ववर्ती हैं।

समन्तभद्रकी कृतियाँ :

आचार्य समन्तभद्रकी रचनायें निम्न प्रकार हैं—

१. आप्तमीमांसा, २. युक्त्यनुशासन, ३. स्वयम्भूस्तोत्र ४. स्तुतिविद्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और ५. रत्नकरण्डश्रावकाचार। ये पाँचों ग्रन्थ उपलब्ध हैं और प्रकाशित हैं। रत्नकरणश्रावकाचारको छोड़कर शेष चारों ग्रन्थ स्तुतिपरक हैं। इन उपलब्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त आचार्य समन्तभद्रके द्वारा रचित निम्नलिखित दो ग्रन्थोंके उल्लेख और मिलते हैं—१. जीवसिद्धि और २. गन्धहस्तिमहाभाष्य। श्री जिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराण में—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।

इस वाक्यके द्वारा जीवसिद्धिका उल्लेख किया है। इसी प्रकार चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् हस्तिमल्लने अपने विक्रान्तकौरवकी प्रशस्ति में—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद् देवागमनिदेशकः॥

इस पद्यके द्वारा गन्धहस्तिमहाभाष्यका उल्लेख किया है।

जैनदर्शनके इतिहासमें समन्तभद्र का स्थान :

अनेकान्त और स्याद्वाद जैनदर्शनके प्राण हैं और आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद-विद्याके प्राणप्रतिष्ठापक हैं। यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्रके पहले जिन तत्त्वों की प्रतिष्ठा आगमके आधार पर प्रचलित थी, आचार्य समन्तभद्रने उन्हीं तत्त्वों को दार्शनिक शैलीमें स्याद्वादन्याय अथवा प्रमाण और नयके आधार पर प्रतिष्ठित किया है। स्याद्वाद की सिद्धि करना ही उनका मुख्य ध्येय था। यद्यपि उन्होंने न्यायशास्त्रके विषयमें विशेष नहीं लिखा है, फिर भी अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी, प्रमाण और नय की स्पष्ट व्याख्या करके जैन न्याय की नींव अवश्य रक्खी है। इन्हींके ग्रन्थोंमें न्याय शब्दका प्रयोग सबसे पहले देखा जाता है। उपेयतत्त्वके साथ ही उपायतत्त्व आगम और हेतुमें अनेकान्त की योजना करके उन्होंने अनेकान्तके क्षेत्र को व्यापक बनाया है। उनके समयमें हेतुवाद आगमवादसे पृथक् हो गया था। अतः उन्हें हेतुवादके आधार पर आप्त की मीमांसा करना उचित प्रतीत हुआ। उन्होंने प्रमाणको स्याद्वादनयसंस्कृत बतलाकार श्रुतज्ञान को स्याद्वाद शब्दसे सम्बोधित किया है। सुनय और दुर्नय की व्यवस्था, दार्शनिक दृष्टिसे प्रमाणका व्यवस्थित लक्षण, प्रमाणके फलका निरूपण और अनेकान्तमें भी अनेकान्त की योजना, यह सब सर्वप्रथम समन्तभद्रने ही किया है।

यथार्थमें समन्तभद्रका समय भारतीय दर्शनके इतिहासमें एक बहुत बड़ी क्रान्ति का समय था। उस समय भावैकान्त, अभावैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवाद, अहेतुवाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद आदि अनेक प्रकारके एकान्तवादोंका प्राबल्य था। समन्तभद्रने उन एकान्तवादोंका सूक्ष्मरूपसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परीक्षण करके युक्तिके द्वारा उनका निराकरण किया है। परस्परमें विरोधी प्रतीत होनेवाले नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्मोंके समुदायरूप वस्तु की सिद्धि सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें ही उपलब्ध होती है। समस्त एकान्तवादोंका स्याद्वादन्यायके द्वारा समन्वय करना समन्तभद की अपनी विशेषता है। इन सब बातोंके कारण जैनदर्शनके इतिहासमें आचार्य समन्तभद्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समन्तभद्र की दार्शनिक उपलब्धियाँ :

सर्वज्ञसिद्धि

जैनदर्शनके इतिहासमें यह प्रथम अवसर है जब आचार्य समन्तभद्रने युक्ति और तर्कके द्वारा सर्वज्ञ को सिद्ध किया है। इससे पहले आगममें सर्वज्ञका निरूपण अवश्य किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि केवलज्ञानका विषय समस्त द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायें हैं। सर्वप्रथम षट्खण्डागममें सर्वज्ञताका स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर होता है[1]। आचार्य कुन्दकुन्दने भी इसीका अनुसरण करते हुए प्रवचनसारमें केवलज्ञान को त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जाननेवाला बतलाया है[2]।

इसके अनन्तर आचार्य गृद्धपिच्छने भी केवलज्ञानका विषय सर्व द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको बतलाया है[3]।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि आचार्य समन्तभद्रने उपर्युक्त आगममान्य सर्वज्ञता को तर्ककी कसौटी पर कसकर दर्शनशास्त्रमें सर्वज्ञकी चर्चाका सर्वप्रथम अवतरण किया है। उन्होंने आप्तमीमांसा में—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्वतोऽन्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

इस कारिका द्वारा अनुमेयत्व हेतुसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंमें किसीकी प्रत्यक्षता सिद्ध करके सामान्यरूपसे सर्वज्ञ सिद्ध किया है। अर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थ अनुमेय होनेसे किसीके प्रत्यक्ष अवश्य हैं। जैसे कि पर्वतमें अग्नि अनुमेय होनेसे किसी पुरुषको प्रत्यक्ष अवश्य होती है। इस प्रकार सामान्य सर्वज्ञसिद्धिके अनन्तर आचार्य समन्तभद्र ने—

---

१. सइं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी'''''सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति।—षटखं० पयडि० सू० ७८
२. तं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥—प्रवचनसार १/४७
३. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।—तत्त्वार्थसूत्र १/२९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

इस कारिका द्वारा अर्हन्तमें सर्वज्ञत्व सिद्ध किया है। अर्हन्त ही सर्वज्ञ है, क्योंकि वे निर्दोष (रागादि दोषोंसे रहित) और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् हैं। उनके द्वारा अभिमत इष्ट तत्त्व प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे बाधित न होनेके कारण अर्हन्तके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी हैं। अतः अर्हन्तमें ही सर्वज्ञत्व सिद्ध होता है।

जीवसिद्धि

आचार्य समन्तभद्रने 'जीवसिद्धि' नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थकी रचना की थी, ऐसा उल्लेख पाया जाता है। किन्तु वह ग्रन्थ वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है। उक्त ग्रन्थमें विस्तारसे जीवकी सिद्धि की गयी होगी। समन्तभद्र ने आप्तमीमांसामें भी—

जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद् हेतुशब्दवत् ।

इस वाक्यके द्वारा जीवकी सिद्धि की है। जीव शब्द अपने बाह्य अर्थ सहित है, क्योंकि वह एक संज्ञा शब्द है। जो संज्ञा शब्द होता है उसका बाह्य अर्थ भी पाया जाता है, जैसे हेतुशब्द। जिस प्रकार हेतुशब्दका धूमादिरूप बाह्य अर्थ पाया जाता है, उसी प्रकार जीवशब्दका भी जीवशब्दसे भिन्न चेतनरूप बाह्य अर्थ विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि जीवशब्दका चेतनरूप वाच्य अर्थ अवश्य है। इस प्रकार संक्षेपमें जीव तत्त्वकी सिद्धि की गयी है।

द्रव्यमें उत्पादादित्रय की सिद्धि

आचार्य समन्तभद्रके पहले आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छने द्रव्यको केवल सामान्यरूपसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप बतलाया था। उसी बातका युक्ति और दृष्टान्तके द्वारा विशेषरूपसे प्रतिपादन समन्तभद्र की अपनी विशेषता है। उन्होंने आप्तमीमांसामें—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

इस कारिका द्वारा बतलाया है कि द्रव्यका सामान्यरूपसे न तो उत्पाद होता है और न विनाश। किन्तु उत्पाद और विनाश विशेषरूपसे ही होता है। अर्थात् द्रव्यका उत्पाद और विनाश नहीं होता है। उत्पाद और विनाश केवल पर्यायका ही होता है। तथा विनष्ट और उत्पन्न पर्यायोंमें द्रव्यका अन्वय बराबर बना रहता है। इसके अनन्तर—

"घटमौलि सुवर्णार्थी" तथा "पयोव्रतो न दध्यत्ति"

इत्यादि दो कारिकाओं द्वारा उक्त बातका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्याद्वाद और सप्तभंगी की सुनिश्चित व्यवस्था :

आचार्य समन्तभद्रके पहले आगममें—

सिया अत्थि दव्वं सिया णत्थि दव्वं

इत्यादि रूपसे स्याद्वाद और सप्तभंगीका उल्लेख अवश्य मिलता है[1]। किन्तु उसकी निश्चित व्याख्या, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भावैकान्त, अभावैकान्त आदि अनेक एकान्तोंमें सप्तभंगीका प्रयोग तथा युक्तिके बल पर वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध करना समन्तभद्रकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। जीवादि प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है और उन अनन्त धर्मोंका प्रतिपादन स्याद्वादके द्वारा किया जाता है। आचार्य समन्तभद्रने बतलाया है कि प्रत्येक वस्तुमें सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार कोटियाँ ही नहीं हैं, किन्तु सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और सदसदवक्तव्य इन तीन कोटियों को मिलाकर कुल सात कोटियाँ हैं। इन्हीं सात कोटियों को सप्तभंगी कहते हैं। सत्, नित्य आदि प्रत्येक धर्मका प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे सात प्रकारसे किया जा सकता है। यतः वस्तुमें अनन्त धर्म हैं, अतः उन अनन्त धर्मोंकी अपेक्षासे प्रत्येक वस्तुमें अनन्त सप्तभंगियाँ बन सकती हैं।

अनेकान्तमें अनेकान्त की योजना :

सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रने ही अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना की है। उन्होंने बतलाया है कि जिस प्रकार जीवादि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है उसी प्रकार अनेकान्तमें भी अनेकान्त पाया जाता है। अर्थात् अनेकान्त सर्वथा अनेकान्त नहीं है, किन्तु कथंचित् एकान्त और कथंचित् अनेकान्त है। जब प्रमाणदृष्टिसे समग्र वस्तु का विचार किया जाता है तब वह अनेकान्त कहलाता है और जब नयदृष्टिसे वस्तुके किसी एक धर्मका विचार किया जाता है तब वही एकान्त हो जाता है[2]। तात्पर्य यह है कि अनेकान्त प्रमाण की अपेक्षासे अनेकान्त है और नयकी अपेक्षासे एकान्त है। इस प्रकार अनेकान्तमें भी अनेकान्तात्मकता सिद्ध होती है।

सर्वोदय तीर्थ :

वर्तमान समयमें सर्वोदयका नाम बहुत सुना जाता है। गाँधीयुगमें भी सर्वोदय

---

१. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥
—पञ्चास्तिकाय गाथा १४

२. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥—स्वयम्भूस्तोत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का बहुत प्रचार हुआ है। किन्तु इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं कि गाँधी-जीसे सत्रह सौ वर्ष पहले उत्पन्न हुए आचार्य समन्तभद्रने वास्तविक सर्वोदयके सिद्धान्तको जनताके समक्ष रखते हुए भगवान् महावीरके तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ कहा था[1]। सर्वोदयका अर्थ है कि जिसके द्वारा सबका उदय, अभ्युदय या उन्नति हो। किसी भी तीर्थ को सर्वोदयी होनेके लिए आवश्यक है कि उसका आधार समता और अहिंसा हो। भगवान् महावीरका शासन ऐसा ही था। उनके शासन में जाति, कुल, वर्ण आदिके भेदभावके बिना सब मनुष्यों को ही नहीं किन्तु प्राणि-मात्र को धर्मसाधन करने तथा आत्म विकास करनेका समान अवसर प्राप्त है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके सिद्धान्तों द्वारा सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रोंमें भी सर्वोदयके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। इन सब बातों के अतिरिक्त सर्वोदयके लिए और क्या चाहिए।

इस प्रकार यहाँ आचार्य समन्तभद्र की कुछ दार्शनिक उपलब्धियों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। वास्तवमें उन्होंने एक युगपुरुषके रूपमें दर्शनके क्षेत्र में अनेक उपलब्धियों को प्रस्तुत करके अपने उत्तरवर्ती दार्शनिकोंके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्रने जिन बातों को सूत्ररूपमें कहा था उन्हीं बातोंका उनके उत्तरवर्ती अकलंकदेव, विद्यानन्द आदि आचार्योंने उनकी वाणी को हृदयंगम करके भाष्य या टीकाके रूपमें विस्तारसे विवेचन किया है।

स्वयम्भूस्तोत्रके संस्कृत टीकाकार प्रभाचन्द्र :

स्वयम्भूस्तोत्र पर आचार्य प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका उपलब्ध है। यह टीका श्री पं० पन्नालाल जी द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी टीका सहित प्रकाशित स्वयम्भूस्तोत्रमें संगृहीत है। यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इस स्तोत्र के संस्कृत टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र कौन हैं। इतना तो निश्चित है कि प्रमेय-कमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र स्वयम्भूस्तोत्रके संस्कृत टीकाकार नहीं हैं। इस स्तोत्रके जो संस्कृत टीकाकार हैं वे ही रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, समाधितन्त्र आदि ग्रन्थोंके भी संस्कृत टीकाकार हैं।

प्रभाचन्द्र अनेक हुए हैं। श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावनामें बीस प्रभाचन्द्रोंका परिचय दिया है। उन्हींमेंसे कोई प्रभाचन्द्र

---

१. सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
—युक्त्यनुशासन ६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयम्भूस्तोत्र आदि ग्रन्थोंके संस्कृत टीकाकार हैं। उनका समय विक्रम सम्वत् की तेरहवीं शताब्दीके पूर्व का है। आचार्य प्रभाचन्द्रने स्वयम्भूस्तोत्र की सरल और सुबोध संस्कृतमें टीका लिखी है। इसमें कहीं-कहीं पर दार्शनिक तत्त्वोंका अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार स्वयम्भूस्तोत्र की यह संक्षिप्त प्रस्तावना है।

वीरशासन जयन्ती
वीर निर्वाण सम्वत् २५१७
२७ जुलाई १९९१

उदयचन्द्र जैन
सर्वदर्शनाचार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयम्भूस्तोत्र-तत्त्वप्रदीपिका

•

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयम्भूस्तोत्र

(१) श्री वृषभ जिन स्तवन

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले
समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—स्वयम्भू, प्राणियोंके हितकारक, सम्यग्ज्ञानकी विभूति (सर्व-पदार्थसाक्षात्कारित्व) रूप नेत्रके धारक, गुणोंके समूहसे युक्त वचनोंके द्वारा अज्ञान-रूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले ऐसे श्री वृषभ जिन अनेक गुणोंसे युक्त किरणोंके द्वारा अन्धकारको नष्ट करनेवाले चन्द्रमाके समान इस भूतल पर सुशोभित हुए थे।

विशेषार्थ—प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ जिन इस भरत क्षेत्रमें अवसर्पिणी कालके तृतीयकालके अन्तमें अवतरित हुए थे। वे स्वयम्भू थे[1]। अर्थात् अन्य किसीके उपदेशके बिना ही वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को जानकर तथा उसका अनुष्ठान (आचरण) करके अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य स्वरूप अनन्तचतुष्टयरूप आत्म विकास को प्राप्त हुए थे। उन्होंने संसारके समस्त जीवोंके कल्याण को दृष्टिसे ही निस्पृह होते हुए भी सब जीवों को मोक्षमार्गका उपदेश दिया था। वे समस्त पदार्थों को जानने वाले सम्यग्ज्ञान की विभूतिस्वरूप केवलज्ञानरूप अद्वितीय नेत्रके धारक थे। अर्थात् सर्वज्ञ थे। इस कारण उन्होंने संसारके समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार कर लिया था। अतः अबाधितत्व और यथावस्थित अर्थप्रकाशकत्व आदि गुणोंके समूहसे युक्त वचनोंके द्वारा उन्होंने संसारी प्राणियोंके अज्ञानरूप अन्धकार को उसी प्रकार नष्ट कर दिया था जिस प्रकार अर्थप्रकाशकत्व, आह्लादकत्व आदि गुणोंसे युक्त किरणोंके द्वारा चन्द्रमा रात्रिके अन्धकार को नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रात्रिमें चन्द्रमा आकाशमें शोभायमान होता है उसी प्रकार श्री वृषभ जिन इस भूतल पर सुशोभित हुए थे।

---

१. स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुध्य अनुष्ठाय वा अनन्तचतुष्टयतया भवतीति स्वयम्भूः। —प्रभाचन्द्राचार्यः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ।। २ ।।

सामान्यार्थ—प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ जिन प्रजापति थे। तत्त्वज्ञ होनेके कारण उन्होंने कर्मभूमिके प्रारम्भमें जीवित रहनेके इच्छुक प्रजाजनों को कृषि आदि छह प्रकारके कार्योंमें प्रशिक्षित किया था। तदनन्तर वे आश्चर्यकारी उदय को प्राप्त होते हुए भी हेय और उपादेय तत्त्वों को जाननेके कारण तथा तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ होनेके कारण सब प्रकारके ममत्वसे विरक्त हो गये थे।

विशेषार्थ—जिस समय श्री वृषभ जिनका जन्म हुआ था उस समय भोगभूमिका अन्त और कर्मभूमिका प्रारम्भ था। कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेसे उस समय प्रजाको आजीविकाका कोई साधन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। प्रजापति होनेके कारण श्री वृषभ जिनका कर्तव्य था कि वे प्रजाजनोंको ऐसे कार्यों की शिक्षा दें जिससे उनकी आजीविका ठीक तरहसे चल सके। वे जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञानसे सम्पन्न थे। यही कारण है कि उन्होंने देश, काल और तत्कालीन परिस्थितिको अच्छी तरहसे जानकर जीवित रहने की इच्छुक प्रजाको कृषि आदि छह प्रकारके कार्योंमें प्रशिक्षित किया था।

वे छह प्रकारके कार्य हैं—कृषि–खेती करना, असि–शस्त्र चलाना, मसि–लेखन कार्य करना, विद्या–गायन, वादन आदि विद्याओंका सीखना, वाणिज्य–व्यापार करना और शिल्प–चित्रकला, वास्तुकला आदि विभिन्न कलाओंका ज्ञान प्राप्त करना। अतः यह कहा जा सकता है कि भगवान् ऋषभनाथ समस्त प्रजाके प्रथम कुशल शिक्षक थे। उनका प्रजापति विशेषण सार्थक है। हिन्दू धर्ममें प्रजापति ब्रह्माको कहते हैं। ब्रह्माको सृष्टिका कर्ता माना गया है। ऋषभदेवने कर्मभूमिके प्रारम्भमें ब्रह्मा की तरह ही कर्मभूमिरूप सृष्टि की तत्कालीन रचना (व्यवस्था) की थी। इसी कारण वे प्रजाके वास्तविक पति (स्वामी) कहलाये।

लोकमें श्री ऋषभनाथका उदय आश्चर्यकारी था। वे गर्भकल्याणक तथा जन्मकल्याणकके समयसे ही इन्द्रादि द्वारा रचित विशिष्ट विभूतिसे सम्पन्न थे। फिर भी वे हेय (संसार और संसारका कारण) और उपादेय (मोक्ष और मोक्षका कारण) तत्त्वोंको अच्छी तरहसे जानते थे। यही कारण है कि वे सब प्रकार की आसक्तिसे विरक्त हो गये थे। वे प्रजा और कुटुम्बसे ही नहीं, किन्तु स्वशरीर और भोगोंसे भी विरक्त हो गये थे। दो पत्नियों, दो पुत्रियों और एक सौ एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुत्रोंका विशाल परिवार उनको स्नेहके बन्धनमें नहीं बाँध सका और वे वैराग्य धारण करनेके प्रति दृढ़ रहे। इन्हीं सब कारणोंसे उनको समस्त तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ बतलाया गया है।

विहाय यः सागरवारिवाससं
वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥ ३॥

सामान्यार्थ—भगवान् ऋषभनाथ मोक्षके अभिलाषी, जितेन्द्रिय, समर्थ, सहनशील, प्रतिज्ञात व्रतसे च्युत न होनेवाले और इक्ष्वाकु कुलके आदि पुरुष थे। उन्होंने पतिव्रता पत्नी की तरह समुद्रपर्यन्त पृथिवीको छोड़कर दीक्षा धारण की थी।

विशेषार्थ—ऋषभनाथ मोक्ष प्राप्त करनेके इच्छुक थे। वे स्वपर कल्याण करना चाहते थे। इन्द्रिय और मन को वशमें करनेके कारण जितेन्द्रिय थे। समर्थ अथवा स्वतंत्र थे। उनमें भूख, प्यास आदि परीषहों अथवा बाधाओं को सहन करने की शक्ति थी तथा गृहीत व्रतोंसे च्युत (विचलित) होनेवाले नहीं थे। उनके कुल का नाम इक्ष्वाकु था। इक्ष्वाकुकुलके वे आदि पुरुष थे। ऐसे ऋषभनाथने पतिव्रता यशस्वती (नन्दा) और सुनन्दा नामक दो पत्नियों को तो छोड़ा ही, साथ ही सागर का जल ही है वस्त्र जिसका ऐसी स्वभोग्या समुद्रपर्यन्त पृथिवी को भी छोड़ दिया था। जिस प्रकार पत्नी सती (पतिव्रता) थी उसी प्रकार पृथिवी भी सती—सुशील पुरुषोंसे आबाद अथवा धन-धान्यसे परिपूर्ण थी। इस प्रकार ऋषभ देवने नन्दा और सुनन्दा इन दो पत्नियों, भरत, बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्रों, ब्राह्मी और सुन्दरी इन दो पुत्रियों तथा अनेक पौत्रों आदिके विशाल परिवार को तथा विशाल साम्राज्य को छोड़कर दीक्षा धारण की थी।

दीक्षा धारण करनेके बाद उनके सहिष्णु और अच्युत विशेषण विशेष सार्थक हुए। कठोर तपस्याके समय उपस्थित होनेवाली भूख, प्यास आदि परीषहों तथा अन्य बाधाओं को सहन करनेमें वे सर्वथा समर्थ रहे। यही कारण है कि वे गृहीत व्रत-नियमोंसे कभी विचलित नहीं हुए। जबकि उनके साथ दीक्षा लेने वाले बारह हजार राजा भूख, प्यास आदि की बाधा को न सह सकनेके कारण कुछ ही समयमें गृहीत व्रतोंसे च्युत होकर भ्रष्ट हो गये थे। उन्होंने केवल स्वामी भक्तिसे प्रेरित होकर दीक्षा धारण कर ली थी। किन्तु वे जितेन्द्रिय और सहिष्णु नहीं थे। अतः वे अपनी दीक्षामें स्थिर नहीं रह सके।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा
निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा
बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।। ४ ।।

सामान्यार्थ—जिन्होंने अपने राग, द्वेष, मोह आदि समस्त दोषोंके मूल कारण चार घातिया कर्मों को अपने परम शुक्लध्यानरूपी तेज (अग्नि)के द्वारा निर्दयतापूर्वक नष्ट कर दिया और तत्त्व ज्ञानके अभिलाषी जीवोंके लिए यथार्थ-रूपसे जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप बतलाया तथा अन्तमें जो ब्रह्मपद (मोक्ष अवस्था) में अमृत (अविनाशी सुख) के ईश्वर (स्वामी) हुए।

विशेषार्थ—दीक्षाग्रहण करनेके बाद एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या करते हुए भगवान् ऋषभनाथने आत्मविकास द्वारा तेरहवें गुणस्थानमें पहुँच कर आत्माके राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि समस्त दोषोंके मूल कारण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंको परम शुक्लध्यान-रूपी अग्निके द्वारा निर्दयतापूर्वक नष्ट कर दिया था। यहाँ निर्दय शब्द ध्यान देने योग्य है। चार घातिया कर्मों को भस्म करनेमें ऋषभनाथने किञ्चित् भी दयाभाव नहीं दिखलाया। ऐसा करना आवश्यक भी था। यदि उस समय घातिया कर्मों पर दयाभाव दिखलाया जाता तो उनका पूर्णरूपसे नाश संभव नहीं होता। यही कारण है कि उनको निर्दयतापूर्वक नष्ट करना पड़ा।

रागादि दोषोंके नष्ट हो जानेपर वे वीतराग हो गये और ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने पर सर्वज्ञ हो गये। अब उनका काम भव्य जीवों को हितोपदेश करना ही शेष रह गया। उन्होंने संसारके प्राणियों को उपदेश तभी दिया जब वे वीतराग और सर्वज्ञ हो गये। उस समय उन्होंने तत्त्वज्ञानके इच्छुक जीवोंको जीवादि तत्त्वों का तथा मोक्षमार्गका जो उपदेश दिया वह सम्यक् अथवा यथार्थ था। क्योंकि रागी-द्वेषी व्यक्ति प्रलोभन आदिके वशसे अन्यथा भी उपदेश दे सकता है। किन्तु वीतरागी जिन अन्यथावादी नहीं होते हैं। चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने पर अर्हन्त अवस्थामें अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन चार अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है तथा क्षुधा, तृषा आदि की बाधा सर्वथा समाप्त हो जाती है। अतः कुछ लोगों द्वारा—'केवली कवलाहार करते हैं' ऐसी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। केवली तो अतीन्द्रिय अनन्त सुखके स्वामी होते हैं। भगवान् ऋषभनाथ ऐसे ही थे। और अन्तमें उन्होंने अविनाशी मोक्ष सुखको प्राप्त कर लिया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां
समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो
जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः ॥ ५ ॥

सामान्यार्थ—जो सर्वदर्शी हैं, सत्पुरुषों द्वारा पूजित हैं, समग्रविद्या (केवलज्ञानरूपी विद्या) ही जिनकी आत्माका स्वरूप है, जो त्रिविध कर्ममलसे रहित हैं, जिन्होंने क्षुल्लकवादियों (एकान्तवादियों) के शासनको जीत लिया है अथवा जिनका शासन एकान्तवादियों द्वारा नहीं जीता जा सका है, और जो चौदहवें कुलकर नाभिरायके पुत्र हैं, ऐसे श्री वृषभनाथ जिनेन्द्र मेरे चित्तको पवित्र करें ।

विशेषार्थ—श्री वृषभ जिन सर्वदर्शी हैं । क्योंकि उनका केवलज्ञानरूपी नेत्र विश्वके समस्त पदार्थोंको विषय करता है । वे संसारके त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को उनकी पर्यायों सहित युगपत् जानते हैं । वे शत इन्द्रों तथा अन्य सत्पुरुषों द्वारा वन्दनीय हैं । समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाली विद्या (केवलज्ञान) उनकी आत्माका शरीर (स्वरूप) है तथा वे भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मरूप मलसे सर्वथा रहित हैं । इस श्लोकमें आगत '**समग्रविद्यात्मवपुः**' और '**निरञ्जन**' ये दो विशेषण मोक्ष अवस्थाके प्रतीक हैं । चतुर्थ श्लोकमें बतलाया गया है कि श्रीवृषभ जिन अन्तमें मोक्षके स्वामी हो गये । अतः मोक्ष प्राप्त हो जाने पर वे ज्ञानरूप शरीरके धारक और त्रिविध कर्ममल रहित हो जाते हैं । रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म ये त्रिविध कर्ममल हैं । सिद्ध जीव ज्ञानशरीरी और त्रिविध कर्ममल रहित होते हैं । छहढालामें कहा भी है—

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता ।

उनका शासन अनेकान्त शासन कहलाता है । उन्होंने इस अनेकान्त शासनके द्वारा सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध आदि एकान्तवादियोंके शासनको जीत लिया है । अथवा उक्त एकान्तवादियोंके द्वारा जिनका शासन जीता नहीं जा सका है । इसका कारण यह है कि अनेकान्त शासनके समक्ष एकान्त शासन टिक नहीं सकता है । क्योंकि वस्तुका स्वरूप ही अनेकान्तात्मक है और यह बात अनुभव तथा प्रमाणसे सिद्ध है । वस्तुमें सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक धर्मयुगल पाये जाते हैं । एकान्त शासन इन अनेक धर्मोंमेंसे केवल एक धर्मको ग्रहण कर कहता है—वस्तु सर्वथा नित्य है अथवा सर्वथा अनित्य है । सांख्य कहता है कि वस्तु सर्वथा नित्य है । इसके विपरीत बौद्ध कहता है कि वस्तु सर्वथा क्षणिक है । ऐसा कथन एकान्तवाद है, जो प्रमाणों-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से निराकृत हो जाता है। अनेकान्त शासन समस्त एकान्तवादोंका समन्वय करता है। वह कहता है कि वस्तु न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य। किन्तु कथञ्चित् नित्य है और कथञ्चित् अनित्य। वह द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य। इसी बातको इस प्रकार कहा जा सकता है कि द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तु नित्य है और पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे वह अनित्य है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि श्री वृषभनाथ आदि तीर्थङ्करोंके समयमें भले ही सांख्य, बौद्ध आदि नामधारी एकान्तवादी न रहे हों, किन्तु नित्यैकान्तवादी, क्षणिकैकान्तवादी आदि अनेक प्रकार के एकान्तवादी सदा रहे हैं।

प्रथम तीर्थङ्कर चौदहवें कुलकर नाभिरायके पुत्र हैं। उनका नाम वृषभ है। वृषका अर्थ है—धर्म। वृषभका अर्थ है—जो धर्मसे सुशोभित होता है अथवा जो धर्मको सुशोभित करता है वह वृषभ कहलाता है। प्रथम तीर्थङ्करके तीन नाम हैं—आदिनाथ, वृषभनाथ और ऋषभनाथ। चौबीस तीर्थङ्करोंमें आदि (प्रथम) होनेके कारण उनका नाम आदिनाथ है। धर्मतीर्थके प्रवर्तक होनेके कारण उनका नाम वृषभनाथ है। उनका चिह्न ऋषभ (बैल) है। उनकी प्रतिमाओं में बैलका चिह्न अंकित रहता है। इसलिए उनको ऋषभनाथ कहते हैं। उक्त तीनों नामोंमेंसे ऋषभनाथ नाम अधिक प्रचलित है।

उक्त सर्वदर्शी आदि विशेषणोंसे विशिष्ट ऋषभनाथ जिनेन्द्र मेरे चित्तको पवित्र करें। यहाँ स्तुतिकारने स्तुति करनेके फलके रूपमें ऋषभ जिनेन्द्रसे केवल चित्तको पवित्र करनेकी कामना की है। सांसारिक ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्रादिकी कामना नहीं की। जिनेन्द्र भगवान् सांसारिक ऐश्वर्य आदि दे भी नहीं सकते हैं। वे तो वीतराग हैं। वे किसीकी स्तुतिसे न तो प्रसन्न होते हैं और निन्दा करनेसे अप्रसन्न भी नहीं होते हैं।

श्रीवृषभ जिनकी स्तुतिके प्रकरणमें यह विशेषरूपसे दृष्टव्य है कि 'स विश्वचक्षुः' इस विशेषणके द्वारा यहाँ मीमांसक मतका निराकरण किया गया है। मीमांसक मतकी मान्यता है कि कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है। वह अपने ज्ञानका इतना विकास नहीं कर सकता है कि उसके द्वारा संसारके समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेमें समर्थ हो जावे। इसके विपरीत जैनदर्शन सप्रमाण सिद्ध करता है कि दोष और आवरणोंका सर्वथा क्षय हो जाने पर यह जीव अनन्तज्ञान अथवा केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ हो जाता है। आचार्य समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें सर्वज्ञत्वको विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है[1]। क्या दोष और आवरणोंकी

---

१. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्वतोऽन्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पूर्ण हानि सम्भव है ? इस शङ्का का समाधान भी आचार्य समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें युक्तिपूर्वक किया है[1]।

इसी प्रकार **'समग्रविद्यात्मवपुः'** इस विशेषण द्वारा कुछ ऐसे मतोंका निराकरण किया गया है जो मानते हैं कि ज्ञान आत्माका गुण नहीं है। न्याय-वैशेषिक मत वाले मानते हैं कि आत्मा पृथक् है और ज्ञानगुण पृथक् है तथा समवाय सम्बन्धसे ज्ञान आत्मामें रहता है। ऐसा मानने पर भी वे मुक्त अवस्थामें ज्ञानका सर्वथा नाश मानते हैं। अर्थात् मुक्त आत्मा ज्ञानगुणसे सर्वथा रहित हो जाता है। इसी प्रकार सांख्य मत वाले मानते हैं कि ज्ञान प्रकृतिका गुण है, पुरुषका नहीं। सांख्य मतमें दो मुख्य पदार्थ हैं—पुरुष और प्रकृति। पुरुष चेतन है और प्रकृति जड़ (अचेतन) है। पुरुषका स्वरूप चैतन्यमात्र है। प्रकृति कर्त्री है और पुरुष भोक्ता। इसके विपरीत जैनदर्शनकी मान्यता है कि ज्ञान आत्माका विशेष गुण है और अर्हन्त अवस्थामें समस्त पदार्थोंको विषय करने वाला केवलज्ञान तो आत्माका स्वरूप है। ज्ञान गुण न तो आत्मासे पृथक् है और न मुक्त अवस्थामें आत्मा ज्ञानशून्य है। आत्मा तो सदा ज्ञानमय रहता है और मुक्त अवस्थामें तो वह विशेष ज्ञानमय हो जाता है। क्योंकि ज्ञान आत्माका स्वरूप है और अर्हन्त अवस्थामें उसका पूर्ण विकास हो जाता है। इस प्रकार यहाँ **'स विश्वचक्षुः'** और **'समग्रविद्यात्मवपुः'** इन दो विशेषणोंका विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

उक्त श्लोकमें **जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः** के स्थानमें **जिनोऽजितक्षुल्लकवादिशासनः** ऐसा भी एक पाठ है। इसका अर्थ यह है कि जिनका शासन एकान्तवादियोंके द्वारा नहीं जीता जा सका ऐसे श्री वृषभ जिन मेरे चित्त को पवित्र करें।

---

१. दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥ ४॥

३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) श्री अजित जिन स्तवन

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य
क्रीडास्वपि क्षीबमुखारविन्दः ।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्ग-
श्चकार नामाजित इत्यबन्ध्यम् ।। १ ।।

सामान्यार्थ—देवलोकसे अवतरित हुए जिनके प्रभावसे उनका बन्धुवर्ग उनकी बाल क्रीड़ाओंमें भी हर्षोन्मत्त मुख कमलसे युक्त हो जाता था। तथा जिनके माहात्म्यसे वह बन्धुवर्ग इस भूमण्डलपर अजेयशक्तिका धारक हुआ था। इसीलिए उस बन्धुवर्गने द्वितीय तीर्थंकरका 'अजित' यह सार्थक नाम रक्खा था।

विशेषार्थ—भगवान् अजितनाथ विजय नामक अनुत्तर विमानसे इस भूतल पर अवतरित हुए थे। वे इतने प्रभावशाली थे कि उनकी बाल क्रीड़ाओंको देखकर उनके कुटुम्बी जनोंका मुख कमल हर्षसे प्रफुल्लित हो जाता था। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। साधारण बालककी क्रियाओंको देखकर परिवारके लोग प्रसन्न होते हैं। फिर वे तो भगवान् थे। उनकी बाल क्रीड़ायें सबके लिए आनन्ददायक होनी ही चाहिए। 'क्रीडास्वपि' यहाँ अपि शब्दसे यह भी तात्पर्य निकलता है कि उनके लोकोत्तर कार्य तो आनन्दप्रद थे ही, किन्तु बाल क्रीड़ायें भी आनन्दप्रद थीं।

भगवान् अजितनाथका ऐसा माहात्म्य था कि उस माहात्म्यके प्रभावसे उनका बन्धुवर्ग इस भूतलपर अजेय शक्तिका धारक हो गया था। उनके बन्धुवर्गको बड़े-बड़े युद्धोंमें भी कोई जीत नहीं सका था। यहाँ ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि उनका बन्धुवर्ग न केवल बड़े-बड़े युद्धोंमें अजेय-शक्तिका धारक था, किन्तु बाल क्रीड़ाओंमें भी वह अजेय रहता था। बाल क्रीड़ाओंसे भी उनके बन्धुवर्गको कोई जीत नहीं सकता था। अपनी इस अजेय-शक्तिके कारण उनके बन्धुवर्गका मुख कमल सदा प्रफुल्लित रहता था। अतः अजेय शक्तिके धारक बन्धुवर्गने द्वितीय तीर्थंकरका 'अजित' नाम रक्खा था। यह नाम सर्वथा सार्थक है। अजित का अर्थ होता है—जो किसीके द्वारा जीता न जा सके। भगवान् अजितनाथ ऐसे ही थे। वे न तो बाह्य शत्रुओंसे जीते जा सके और न अन्तरंग कर्म शत्रुओंसे जीते जा सके। प्रत्युत उन्होंने बाह्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अन्तरंग शत्रुओंपर पूर्ण विजय प्राप्त की थी। अतः उनका अजित नाम सर्वथा सार्थक है।

अद्यापि यस्याजितशासनस्य
सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम्।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं
स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके॥ २॥

सामान्यार्थ—जिनका अनेकान्त शासन एकान्तवादियोंके द्वारा अजेय है और जो सत्पुरुषोंके प्रधान नायक हैं, ऐसे भगवान् अजितनाथका परम पवित्र नाम आज भी इस लोकमें अपनी इष्टसिद्धिके इच्छुक जनोंके द्वारा प्रत्येक मंगलके लिए सादर ग्रहण किया जाता है।

विशेषार्थ—भगवान् अजितनाथका शासन अनेकान्त शासन है। यह अनेकान्त शासन किसी भी एकान्तवादीके द्वारा जीता नहीं जा सकता है। इस कारण उनका शासन अजेय है। वे भव्य पुरुषोंके प्रधान नेता हैं। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गपर चलकर भव्य जीव आत्म कल्याणमें प्रवृत्ति करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि श्री अजित जिन भव्य जीवों के सन्मार्ग प्रवर्तक थे। ऐसे भगवान् अजितनाथका नाम परम पवित्र है। लोकोत्तर पुरुष अथवा तीर्थंकर होनेसे उनके नामका परम पवित्र होना स्वाभाविक है। अतः जो भी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक उनके नामका स्मरण या उच्चारण करता है वह पवित्र हो जाता है। उनके नामका जो माहात्म्य उनके समयमें था, वही माहात्म्य असंख्यात काल बीत जाने पर आज भी बना हुआ है। यही कारण है कि इस लोकमें जो भव्य जीव अपने मनोरथ की सिद्धि करना चाहते हैं उनके द्वारा प्रत्येक शुभ कार्यके प्रारम्भमें भगवान् अजितनाथका नाम सादर लिया जाता है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या भगवान् अजितनाथका नाम इष्टसिद्धि करानेमें समर्थ है और यदि ऐसा है तो प्रत्येक व्यक्तिकी इष्टसिद्धि उनके नामके उच्चारण या स्मरण मात्रसे हो जाना चाहिए। इस प्रश्नका उत्तर यही हो सकता है कि जो भव्य जीव श्रद्धापूर्वक भगवान् अजितनाथके नामका स्मरण करता है वह अवश्य ही पुण्य बन्धके द्वारा अपने मनोरथकी सिद्धि करनेमें समर्थ होता है। उनका नाम पवित्र और मंगल रूप है। अतः प्रत्येक मंगल या शुभ कार्यकी निर्विघ्न सिद्धिके लिए उनके नामका स्मरण या उच्चारण श्रद्धापूर्वक करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या प्रादुरासीत् प्रभुशक्तिभूम्ना
भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो
यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ।। ३ ।।

सामान्यार्थ--घातिया कर्मरूप सघन आवरणसे मुक्त तथा महामुनि भगवान् अजितनाथ भव्य जीवोंके हृदयोंमें संलग्न कलंककी शान्तिके लिए जगत्के उपकार करनेमें समर्थ शक्ति (वाणी)के माहात्म्य विशेषसे सम्पन्न होकर उसी प्रकार प्रकट हुए थे जिसप्रकार मेघोंके आवरणसे मुक्त सूर्य कमलोंके विकासके लिए प्रकाशमय शक्तिसे सम्पन्न होकर प्रकट होता है ।

विशेषार्थ--जब तक आत्माके ऊपर घातिया कर्मोंका सघन आवरण पड़ा रहता है तब तक उसके ज्ञान आदि गुणोंका पूर्ण विकास नहीं हो पाता है । भगवान् अजितनाथने जब तेरहवें गुणस्थानमें पहुँचकर परम शुक्लध्यानके द्वारा चार घातिया कर्मोंका पूर्ण विनाश कर दिया तब वे केवलज्ञानसे सम्पन्न हो गये । वे पहले मुनि थे किन्तु अब गणधरादि मुनियोंमें प्रधान होनेके कारण अथवा केवलज्ञानी होनेके कारण महामुनि कहलाये । ऐसे अजितनाथ भगवान् भव्य जीवोंके हृदयोंमें स्थित कर्मरूप कलंकके विनाशके लिए प्रादुर्भूत हुए थे ।

प्रत्येक संसारी जीव कर्म कलंकसे कलंकित रहता है । कर्म दो प्रकारका है--भावकर्म और द्रव्यकर्म । राग, द्वेष, मोह आदि जीवके विकारी भाव भावकर्म हैं और ज्ञानावरणादि आठ कर्म द्रव्यकर्म कहलाते हैं । ये दोनों कर्म चैतन्यरूप आत्मस्वरूपके साथ संलग्न रहते हैं और इनके संयोगसे आत्माका स्वरूप मलिन रहता है । भव्य जीवोंका कल्याण तभी हो सकता है जब इस कर्म कलंकका विनाश हो जावे । अतः श्री अजित जिन केवलज्ञानको प्राप्त कर लोकोपकारक दिव्यध्वनिके माहात्म्य विशेषसे भव्य जीवोंके हृदयोंमें विद्यमान अज्ञान अन्धकारको दूर करके उनके आत्मविकासके कारण हुए थे । जगत्के उपकारक होनेसे भगवान् प्रभु कहलाते हैं । दिव्यध्वनिरूप वाणी उनकी शक्ति है जिसके माहात्म्यसे वे जीवादि तत्त्वोंका प्ररूपण कर के भव्य जीवोंका उपकार करते हैं । वे अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा भव्य जीवोंका अभ्युदय (आत्मविकास) उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार मेघोंके आवरणसे रहित सूर्य अपने प्रखर प्रतापके द्वारा कमलोंका अभ्युदय (विकास) करता है ।

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं
ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं
गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—भगवान् अजितनाथने सर्वोत्कृष्ट और विस्तृत धर्म तीर्थका प्रणयन किया था। भव्य जीव उस धर्म तीर्थको प्राप्त कर संसार परिभ्रमण जन्य दुःखको उसी प्रकार जीत लेते हैं जिसप्रकार सूर्यके आतापसे संतप्त बड़े-बड़े हाथी चन्दनके लेपके समान शीतल गंगा नदीके अगाध जलमें प्रवेश करके सूर्यके संताप-जन्य दुःखको जीत लेते हैं।

विशेषार्थ—भगवान् अजितनाथने धर्मतीर्थका प्रकाशन किया था। तीर्थ घाटको कहते हैं। नदीके किनारे घाट बने रहते हैं। स्नानार्थी लोग घाटके आश्रयसे स्नानादि क्रियाओंको सरलतासे सम्पन्न कर लेते हैं। इसी प्रकार जो भव्य जीव संसार समुद्रको पार करना चाहते हैं वे धर्म तीर्थका आश्रय लेकर सरलतापूर्वक संसार समुद्रको पार कर सकते हैं। धर्म सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप अथवा उत्तमक्षमादि दक्षलक्षणरूप होता है। संसार समुद्रसे पार उतरनेके लिए घाटके समान होनेके कारण धर्मको धर्मतीर्थ कहा गया है। अथवा मोक्षमार्गरूप तथा उत्तमक्षमादिरूप धर्मका प्रतिपादक जो आगम है उसको भी धर्मतीर्थ कहा जाता है। श्री अजित जिनका धर्म तीर्थ समस्त धर्म तीर्थोंमें प्रधान होनेके कारण सर्वोत्कृष्ट है तथा सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेके कारण विस्तृत है। जिस प्रकार केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करता है उसी प्रकार आगमज्ञान या श्रुतज्ञान भी सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करता है। दोनोंमें भेद केवल प्रत्यक्ष और परोक्षकी दृष्टिसे है। केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूपसे उनको विषय करता है और श्रुतज्ञान परोक्ष रूपसे उनको विषय करता। संसारी जीव चारों गतियोंमें और चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ, जन्म, जरा, मरण आदिके दुःखोंको भोगता रहता है। किन्तु भव्य जीव इस धर्म तीर्थका आश्रय लेकर संसार परिभ्रमण जन्य दुःखको उसी प्रकार जीत लेते हैं जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यके आतापसे पीड़ित बड़े-बड़े हाथी चन्दनके लेपके समान शीतल गंगा नदीके अगाध जलमें प्रवेश करके सूर्यके आताप जन्य दुःखको जीत लेते हैं।

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रु-
विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा
जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥ ५ ॥ (१०)

सामान्यार्थ—आत्मस्वरूपमें अवस्थित, मित्र और शत्रुमें समताभाव धारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेवाले, परमागम ज्ञानरूप विद्याके द्वारा कषाय और दोषोंको पूर्णरूपसे नष्ट करनेवाले, अनन्तज्ञानादिरूप आत्मलक्ष्मीको प्राप्त करनेवाले और जिनकी आत्मा इन्द्रियों और कषायोंके द्वारा अजेय है ऐसे श्री अजितनाथ भगवान् मेरे लिए आर्हन्त्यलक्ष्मीकी प्राप्तिका विधान करें।

विशेषार्थ—भगवान् अजितनाथ ब्रह्मनिष्ठ हैं। ब्रह्म आत्माको कहते हैं। सकल दोष रहित आत्मस्वरूपमें अवस्थित होनेके कारण उनको ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है। मित्र और शत्रुमें उनका समान भाव है। उनको न तो मित्रमें राग है और न शत्रुमें द्वेष है। यहाँ मित्र-शत्रु शब्द उपलक्षण हैं। अर्थात् यहाँ इस शब्द द्वारा तत्सम अन्य वस्तुओंका भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे महल-मशान, कंचन-काँच, निन्दा-स्तुति, अर्घ चढ़ाना—असिप्रहार करना इत्यादि। जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह उक्त सब वस्तुओंको समान रूपसे देखता है। उसको किसीमें राग और किसीमें द्वेष नहीं होता है। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण यह है कि उन्होंने परमागमके ज्ञान और तदनुरूप आचरण के द्वारा द्रव्य क्रोधादि रूप कषाय और भाव क्रोधादि रूप दोषोंको सर्वथा नष्ट कर दिया है। इसी बातको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि उन्होंने मोक्षमार्ग पर चलकर ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और राग-द्वेषादि भावकर्मको समूल नष्ट कर दिया है। इसी कारण उन्होंने अनन्त-ज्ञानादिरूप आत्मलक्ष्मीको प्राप्त कर लिया है। तथा जिनकी आत्मा इन्द्रियों और कषायों आदिके द्वारा जीती नहीं जा सकी है। अर्थात् जो इन्द्रियों और कषायोंके अधीन न होकर आत्मस्वरूपमें स्थित हैं। ऐसे अजितनाथ भगवान् मेरे लिए शुद्धात्मलक्ष्मीकी प्राप्ति का विधान करें। तात्पर्य यह है कि मैं उनके द्वारा बतलाये गये मार्गपर चल कर अपनी आत्माको कर्मबन्धनसे मुक्त कर जिन लक्ष्मीको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकूं। यहाँ स्तुतिकारने किसी भौतिक सुख या वस्तुकी कामना न करके केवल यही कामना की है कि हे भगवन्! आपके प्रसादसे मुझमें ऐसी शक्ति आ जावे जिससे मैं कर्मबन्धनको समाप्त कर आपके समान बन सकूँ।

इस श्लोकके तृतीय चरणमें श्री मुख्तार सा० के सम्पादनमें **'अजितोऽजितात्मा'** ऐसा पाठ है जो ठीक मालूम पड़ता है। अन्य मुद्रित प्रतियोंमें 'अजितात्मा'के स्थानमें 'जितात्मा' पाठ है। **'अजितात्मा'**का अर्थ है—जिनकी आत्मा इन्द्रिय आदिके द्वारा जीती नहीं जा सकी है। अर्थात् जो इन्द्रिय आदिके अधीन न होकर स्वाधीन हैं। **'जितात्मा'**का अर्थ होता है—जिन्होंने अपनी आत्माको जीत लिया है। यहाँ आत्माको जीतनेका कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता है। इसका भी तात्पर्य यही है कि जिनकी आत्मा इन्द्रियाधीन नहीं है। अतः **'अजितात्मा'** पाठ अधिक उपयुक्त है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) श्री शम्भव जिन स्तवन

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः
संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो
वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—हे शम्भव जिन ! सांसारिक तृष्णारूप रोगोंसे पीड़ित जनोंके लिए आप इस लोकमें आकस्मिक वैद्यके रूपमें उसी प्रकार प्रकट हुए थे, जिस-प्रकार अनाथ लोगोंके रोगोंकी शान्तिके लिए कोई चतुर वैद्य अचानक प्रकट हो जाता है ।

विशेषार्थ—तृतीय तीर्थंकरका नाम शम्भवनाथ है । इनका शम्भव नाम सार्थक है । 'शम्'का अर्थ है—सुख । जिनके द्वारा भव्य जीवोंको सुख प्राप्त होता है उन्हें शम्भव कहते हैं । संसारी प्राणी नाना प्रकारकी तृष्णाओं से सदा दुःखी रहते हैं । सम्पूर्ण तृष्णाओंकी पूर्ति कभी भी नहीं हो सकती है । संसारके प्राणी केवल तृष्णाओंके कारण ही दुःखी नहीं होते हैं, किन्तु जन्म, जरा, मरण आदि अनेक दुःखोंसे भी संतप्त रहते हैं । यहाँ तृष्णा या जन्म-मरणादि को रोग कहा गया है, क्योंकि ये सब दुःखके कारण होते हैं । संसार के प्राणी जिन रोगोंसे पीड़ित हैं उनकी चिकित्साके लिए एक ऐसे कुशल वैद्यकी आवश्यकता सदा बनी रहती है जो उनके रोगोंको दूर करनेका उपाय बतला सके ।

यहाँ स्तुतिकारने बतलाया है कि शम्भवनाथ भगवान् संसारी प्राणियोंके दुःखरूप रोगोंकी चिकित्साके लिए आकस्मिक (फलनिरपेक्ष) वैद्यके रूपमें प्रकट हुए थे । श्री शम्भव जिन कोई लौकिक वैद्य नहीं हैं, किन्तु अलौकिक वैद्य हैं, जो संसारके दुःखी प्राणियोंकी चिकित्सा किसी फलकी आकांक्षाके बिना निस्पृह भावसे करते हैं । तात्पर्य यह है कि श्री शम्भव जिनके द्वारा बतलाये गये मोक्ष-मार्ग पर चलकर भव्य जीव अपने दुःखोंका नाश करके संसारके दुःखोंसे मुक्त हो सकते हैं । वर्तमानमें भी हम देखते हैं कि कई अनाथ लोग या गरीब लोग तरह-तरहके रोगोंसे पीड़ित रहते हैं । किन्तु कभी ऐसा सुयोग आ जाता है कि कोई कुशल वैद्य अचानक उन लोगोंके बीचमें आकर धनादिकी आकांक्षाके बिना ही उन असहाय लोगोंकी चिकित्सा करके उन्हें रोग मुक्त कर देता है । श्री शम्भव जिन भी ऐसे ही अलौकिक कुशल वैद्य हैं जो संसारके दुःखी प्राणियोंकी चिकित्सा करके उन्हें दुःखोंसे मुक्त कर देते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ स्तुतिकारने तृतीय जिनका नाम शम्भव वतलाया है। किन्तु वर्तमानमें उनका संभवनाथ नाम प्रचलित है। दोनों नामोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। संभवका अर्थ संसार होता है। अतः जो संसारका नाथ (स्वामी) है वह संभवनाथ कहलाता है।

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः
प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं
निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे शंभव जिन! यह जगत् अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंसे युक्त मिथ्या अभिनिवेशरूप दोषसे दूषित है तथा जन्म, जरा और मरणसे पीड़ित है। ऐसे इस जगत्को आपने कर्म कलंकसे रहित शान्ति की प्राप्ति कराई है।

विशेषार्थ--यह जगत् विनश्वर है। यहाँ जगत्से तात्पर्य जीव समूहसे है। यद्यपि संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य हैं, तथापि यहाँ संसारी प्राणियोंके विषयमें विचार किया गया है। जो जीव मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न हुआ है उसकी मनुष्य पर्याय स्थिर नहीं है। वह विनश्वर है, क्षणभंगुर है तथा निश्चित समयपर उसका नाश अवश्यम्भावी है। मृत्यु एक शाश्वत सत्य है। उससे किसी भी प्रकार बचा नहीं जा सकता है। इसी प्रकार यह जीवन अशरण है। माता-पिता, परिवार के लोग, अथवा कोई देवी-देवता, यहाँ तक कि जिनेन्द्र देव भी किसी जीवके जीवनरूप मनुष्यादि पर्यायकी रक्षा नहीं कर सकते हैं। संयोगों और पर्यायोंकी सुरक्षा किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। यद्यपि संसारमें मणि, मन्त्र, तन्त्र आदि अनेक उपायोंका प्रयोग जीवनकी रक्षाके लिए किया जाता है, फिर भी मरते समय इस जीवको कोई भी नहीं बचा पाता है। अतः यह जीवन अशरण है।

इसी प्रकार यह जीव संयोगों और पर्यायोंमें अहंकार और ममकार करता हुआ मिथ्या अभिप्रायके कारण अपनेको बाह्य पदार्थोंका कर्ता-धर्ता मान रहा है। यह उसका बड़ा भारी दोष है और प्रत्येक जीव इस दोषसे दूषित है। मैं स्त्री, पुत्र, धन आदिका स्वामी हूँ, मैं इसका कर्ता हूँ, मैं इसका रक्षक हूँ, इत्यादि कल्पना करना अहंकार है। यह पुत्र मेरा है, यह मकान मेरा है, यह धन मेरा है, इत्यादि कल्पना करना ममकार है। अहंकार और ममकार का भाव मिथ्या अभिनिवेश (विपरीत अभिप्राय) के कारण ही होता है। जिस जीवका अभिप्राय सम्यक् है वह बाह्य पदार्थोंमें कभी भी अहंकार-ममकार नहीं करेगा। तात्पर्य यह है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रायः समस्त संसारी जन अहंकार-ममकारके कारण मिथ्या अभिनिवेशरूप दोषसे दूषित हैं। इसी प्रकार वे जन्म, जरा और मरणके दुःखोंसे सदा पीड़ित रहते हैं। ऐसा कोई भी संसारी जीव नहीं है जो जन्म, जरा और मरण के दुःखों से मुक्त हो।

ऐसे इस जगत्के नाना प्रकार के दुःखोंसे पीड़ित प्राणियों को श्री शंभव जिनने मोक्षका मार्ग बतलाकर कर्मकलंकसे रहित मुक्ति स्वरूप शान्तिकी प्राप्तिका उपाय बतला दिया है। जो भी भव्य जीव उनके द्वारा बतलाये गये शान्तिके मार्ग पर चलते हैं उन्हें अवश्य ही निष्कलंक चिर शान्ति को प्राप्ति होती है।

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं
तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं
तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ २ ॥

सामान्यार्थ--इन्द्रियजन्य सुख बिजलीके उन्मेषके समान चंचल है तथा तृष्णारूप रोगकी अभिवृद्धिमात्रका कारण है। तृष्णाकी अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप संसारके प्राणियोंको दुःखोंकी परम्परा द्वारा पीड़ित करता रहता है। ऐसा शंभव जिनने कहा है।

विशेषार्थ—शंभवनाथ भगवान्ने दुखके यथार्थ निदानको बतलाते हुए कहा है कि इन्द्रिय जन्य सुख बिजलीकी चमकके समान चंचल है। वर्षा ऋतुमें जब बादलोंके घर्षणसे बिजली चमकती है तब सब के अनुभवमें आता है कि बिजलीकी चमक कितनी क्षणिक है। इसी प्रकार इन्द्रिय जन्य सुख भी थोड़े समयके लिए ही होता है, स्थायी नहीं है। कर्माधीन होनेके कारण वह अन्त सहित है तथा बीच-बीचमें वह शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे मिश्रित भी होता रहता है। इतना ही नहीं, वह सुख तृष्णारूप रोगकी अभिवृद्धिका कारण भी होता है। संसारके प्राणियोंमें सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके लिए जो तीव्र इच्छा होती है वही तृष्णा है। यह तृष्णा एक प्रकारका रोग है जिसकी चिकित्सा सरल नहीं है। इन्द्रियोंके विषयोंके सेवनसे तृष्णाकी शान्ति नहीं होती है, प्रत्युत उसकी अभिवृद्धि ही होती है। जितनी मात्रामें विषयोंका सेवन किया जाता है उतनी ही मात्रामें तृष्णाकी वृद्धि होती जाती है। और यह तृष्णाकी अभिवृद्धि प्राणियोंमें लगातार संताप उत्पन्न करती रहती है। इस प्रकार संसारके प्राणी तृष्णा जन्य तापसे निरन्तर तपते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि तृष्णाके कारण दुःखोंकी परम्पराका कभी अन्त नहीं होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री शंभव जिन ने उक्त प्रकारसे कथन करके संसारके प्राणियोंको दुःखका यथार्थ निदान बतला दिया है। दुःखका वास्तविक कारण है—इन्द्रिय जन्य सुख। क्योंकि इससे तृष्णा बढ़ती है और तृष्णाके बढ़नेसे प्राणी सदा संतप्त होकर नाना प्रकारके क्लेशोंको भोगता रहता है। अतः इन्द्रिय जन्य सुखमें आसक्तिको छोड़कर अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे नाथ! बन्ध और मोक्ष तथा बन्ध और मोक्षके हेतु, बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा तथा मुक्तिका फल, यह सब व्यवस्था अनेकान्तवादी आपके मतमें ही युक्ति संगत है, एकान्तवादियोंके मतमें नहीं। अतः आप ही शास्ता (उपदेष्टा) हैं।

विशेषार्थ—कषाय सहित होनेसे यह जीव जो कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है वह बन्ध है। अर्थात् कार्मण वर्गणाओंका आत्माके प्रदेशोंके साथ संश्लेष-रूप सम्बन्धको प्राप्त होना ही बन्ध है। बन्ध अवस्थामें जीवका कर्मोंके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध हो जाता है। जो आत्मा कषायवान् है वही कर्मोंसे बँधता है[1]। संवर और निर्जराके द्वारा सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होनेका नाम मोक्ष है। मोक्ष अवस्थामें आठों कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाता है। बन्धके हेतुओं-का अभाव हो जानेसे अर्थात् संवरसे नवीन कर्मोंका आना रुक जाता है तथा निर्जरासे संचित कर्मोंका विनाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा सर्वथा कर्म रहित हो जाता है। यही मोक्ष है[2]।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं[3]। मिथ्या-दर्शन आदिके द्वारा कर्मोंका आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध हो जाता है। इसलिए इनको बन्धका हेतु कहा गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्षके हेतु हैं[4]। भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि तीनोंकी पूर्णता प्राप्त कर लेने पर कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसलिए इनको मोक्षका हेतु अथवा मोक्षमार्ग कहा गया है। जो आत्मा कर्मसे बँधा हुआ है वह बद्ध आत्मा है और

---

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।—तत्त्वार्थसूत्र ८।२.
२. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।—तत्त्वार्थसूत्र १०।२
३. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।—तत्त्वार्थसूत्र ८।१
४. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र १।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो आत्मा कर्मबन्धनसे मुक्त हो गया है वह मुक्त आत्मा है। आठ कर्मोंका नाश हो जानेपर मुक्त आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व ये आठ गुण प्रकट हो जाते हैं। यही मुक्तिका फल है।

बन्ध, मोक्षादि की व्यवस्था अनेकान्तवादी श्री शंभव जिनके मतमें ही युक्तिसंगत है। बौद्ध, सांख्य आदि एकान्तवादियोंके मतमें उक्त व्यवस्था किसी भी प्रकारसे नहीं बन सकती है। बौद्ध क्षणिकवादी हैं। उसके मतमें प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है। बौद्धमतमें जब कोई नित्य आत्मा है ही नहीं तब जिसने पूर्वमें बन्ध किया है वही बादमें मुक्त होता है, ऐसी व्यवस्था कैसे बन सकती है। यहाँ तो बन्ध किसी दूसरेने किया और मुक्त कोई दूसरा हो गया। क्योंकि बन्ध करनेवाला आत्मा बन्ध करते ही नष्ट हो जाता है। अतः मोक्ष किसी दूसरेका ही होता है। बन्धके कारणोंका अनुष्ठान किसी दूसरेने किया और दूसरा कोई बँध गया। इसी प्रकार मुक्तिके कारणोंका अनुष्ठान किसी दूसरेने किया और अन्य कोई मुक्त हो गया। अतः क्षणिकवादी बौद्धोंके यहाँ बन्ध आदि की युक्तिसंगत व्यवस्था नहीं बन सकती है।

इसी प्रकार नित्यैकान्तवादी सांख्यके मतमें भी बन्ध, मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं बनती है। सांख्यका कहना है कि प्रत्येक पदार्थ कूटस्थ नित्य है। वह सदा एक-सा रहता है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें जो आत्मा बद्ध है वह सदा बद्ध ही रहेगा, वह मुक्त कभी नहीं हो सकेगा। और जो आत्मा मुक्त है वह सदा मुक्त ही रहेगा, उसके बद्ध होनेका कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि वह तो सर्वथा एक रूप है। यदि उसमें परिवर्तन स्वीकार किया जाय तो नित्यैकान्तका विरोध उपस्थित होनेके कारण सांख्यके मतमें स्वमत-व्याघातका दोष आता है। बौद्ध और सांख्यकी तरह अन्य एकान्तवादियोंके मतमें भी बन्ध, मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

इसके विपरीत अनेकान्तवादी शासनमें बन्ध, मोक्ष आदि की व्यवस्थामें कोई असंगति नहीं है। अनेकान्तवादी मतमें आत्मा द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे नित्य है और पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे अनित्य है। अतः द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे यह बात संगत है कि पूर्वमें जिस आत्माने कर्मबन्ध किया था वही बादमें मुक्त होता है। तथा पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे बद्ध और मुक्त पर्यायें भी एक ही आत्मामें संगत हो जाती हैं। जिस आत्माकी पहले बद्ध पर्याय थी उसीकी अब मुक्त पर्याय हो गयी। इस प्रकार अनेकान्तवादी शासनमें बन्ध, मोक्ष आदि की सब व्यवस्था युक्तिसंगत सिद्ध होती है। यतः श्री शंभव जिन स्याद्वादी (अनेकान्तवादी) हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः वे ही यथार्थ शास्ता (उपदेष्टा) हैं। कोई भी एकान्तवादी बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वोंका यथार्थ उपदेष्टा नहीं हो सकता है।

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः
स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो
ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥ १५ ॥ (१५)

सामान्यार्थ—हे आर्य ! प्रशस्त कीर्तिवाले आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ इन्द्र भी पूर्ण स्तुति करनेमें असमर्थ रहा है। फिर मुझ जैसा अज्ञानी पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है। तो भी मैंने भक्तिपूर्वक आपके चरण-कमलोंकी स्तुति की है। अतः आप मुझे उच्चकोटिकी शिवसन्तति (कल्याण परम्परा) प्रदान करें।

विशेषार्थ—यहाँ शंभवनाथ भगवान्का आर्य शब्द द्वारा सम्बोधन किया गया है। जो गुणों अथवा गुणवानोंके द्वारा सेव्य होता है वह आर्य कहलाता है। श्री शंभव जिन ऐसे ही आर्य हैं। क्योंकि उनमें अनन्तज्ञानादि गुण विद्यमान हैं तथा वे विशिष्ट ज्ञानादिगुण सम्पन्न मुनि-गणधरादिके द्वारा सेवित हैं। उनकी कीर्ति निर्मल है। यहाँ कीर्ति शब्दके तीन अर्थ किये गये हैं—ख्याति, वाणी और स्तुति। संसारमें उनकी ख्याति प्रशस्त (निर्मल) है। जीवादि तत्त्वोंका कीर्तन (प्रतिपादन) करनेवाली उनकी वाणी भी प्रशस्त है। और उनकी स्तुति भी पुण्य बन्धका कारण होनेसे प्रशस्त है।

ऐसे शंभवनाथ भगवान्की इन्द्रने स्तुति की थी। इन्द्र अवधिज्ञानी तथा समस्त श्रुतका ज्ञाता होता है। जब ऐसा इन्द्र भी श्री शंभव जिनकी पूर्णरूपसे स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सका तब मुझ जैसा विशिष्ट ज्ञान रहित मानव उनकी स्तुति करनेमें समर्थ कैसे हो सकता है। किन्तु असमर्थ होते हुए भी मैंने पूर्ण अनुरागके साथ श्रद्धापूर्वक शंभवनाथ भगवान्के चरण-कमलोंकी स्तुति की है। अतः हे श्री शंभव जिन ! इस स्तुतिके उपलक्ष्यमें आप मुझे उच्चकोटिकी कल्याण परम्परा या सुख परम्परा प्रदान करें। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्तुतिकार स्तुतिके फलस्वरूप किसी सांसारिक सुखकी कामना नहीं कर रहा है। वह तो चाहता है कि श्री शंभव जिनकी स्तुतिके प्रसादसे मुझे परम्परा द्वारा सर्वोत्कृष्ट सुख (मोक्ष सुख) की प्राप्ति हो।

इस श्लोकमें शक्र शब्दके द्वारा सौधर्म नामक प्रथम स्वर्गके सौधर्म इन्द्रका उल्लेख समझना चाहिए। यद्यपि जन्म कल्याणक आदि अवसरों पर ऐशान आदि अन्य इन्द्र भी आते हैं, किन्तु उनमेंसे सौधर्म इन्द्र ही भगवान्की विशेषरूपसे सेवा, स्तुति आदि करता है। क्योंकि उसका ऐसा ही नियोग है। इसी कारण वह एक भवावतारी होता है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) श्री अभिनन्दन जिन स्तवन

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्
दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये
द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—हे अभिनन्दन जिन ! आप गुणोंकी अभिवृद्धिके कारण होनेसे 'अभिनन्दन' इस सार्थक नामको धारण करनेवाले हैं। आपने क्षमा है सखी जिसकी ऐसी दयारूप वधूको अपने आश्रयमें लिया है। आपका प्रधान लक्ष्य समाधि (ध्यान) को प्राप्त करना है। अतः आप उसकी सिद्धिके लिए दोनों प्रकार के अपरिग्रहरूप गुणसे युक्त हुए हैं।

विशेषार्थ—चतुर्थ तीर्थङ्करका अभिनन्दन यह नाम सार्थक है। अभिनन्दनका अर्थ है—जिसके द्वारा ज्ञानादि अन्तरंग गुणोंकी तथा लक्ष्मी आदि बहिरंग गुणोंकी चतुर्मुखी वृद्धि हो। श्री अभिनन्दन जिनके उत्पन्न होते ही समस्त जीवोंके ज्ञान, सुख, सम्पत्ति आदि गुणोंकी अभिवृद्धि होने लगी थी। इस कारण उनका नाम अभिनन्दन प्रसिद्ध हो गया। श्री अभिनन्दन जिनने दया और क्षमा दोनोंको अपनाया था। दूसरे जीवोंके दुःख दूर करने रूप शुभराग मिश्रित भावको दया कहते हैं। और क्रोधादि कषायोंके अभावमें होनेवाली आत्माकी शान्तिरूप परिणतिको क्षमा कहते हैं। श्री अभिनन्दन जिनने गृहस्थावस्थामें दयाको अपनाया और मुनि अवस्थामें उत्तम क्षमारूप वीतराग परिणतिको प्राप्त किया।

उनका प्रधान लक्ष्य समाधिको प्राप्त करना था। यहाँ समाधिका अर्थ धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनों है। अतः उन्होंने समाधिको प्राप्त करनेके लिए मिथ्यात्वादि चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रहको और धन-धान्यादि दस प्रकारके बहिरंग परिग्रहको छोड़कर नैर्ग्रन्थ्य गुणको अपनाया था। परिग्रह व्यग्रताका कारण है। अतः परिग्रही जीवोंके एकाग्रतारूप ध्यान नहीं बन सकता है। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों ध्यान मोक्षके हेतु हैं। धर्म्यध्यान परम्परया मोक्षका कारण है और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षका कारण है। यह भी कहा जा सकता हैं कि शुक्लध्यान कर्मक्षयका साक्षात् कारण है और शुक्लध्यानकी प्राप्ति सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागके बिना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि श्री अभिनन्दन जिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग करके पूर्ण निर्ग्रन्थ अवस्थाको प्राप्त हुए थे।

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च
ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात्।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च
क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे अभिनन्दन जिन! अचेतन शरीरमें और अचेतनकृत कर्मबन्धसे उत्पन्न सुख-दुःखादिमें तथा स्त्री-पुत्रादिमें यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकारके विपरीत अभिप्रायको ग्रहण करनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें स्थायित्वका निश्चय करनेसे नष्ट हो रहे जगत्को आपने तत्त्वका ग्रहण कराया था।

विशेषार्थ—यह शरीर पौद्गलिक होनेसे अचेतन है। संसारी जीव अनादिकालीन मिथ्यात्वके कारण इस अचेतन शरीरमें यह मेरा शरीर है, यह काला है, यह गोरा है, इत्यादि नाना प्रकारका विकल्प करता है। जिस कर्मके द्वारा आत्माका बन्ध होता है वह कर्म भी अचेतन है। अचेतन कार्मण वर्गणाओं द्वारा आत्माका बन्ध किया जाता है। अतः द्रव्यकर्म अचेतन है। इस कर्मबन्धसे उत्पन्न सुख-दुःखादिमें यह जीव मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि प्रकारका विकल्प करता है। इस प्रकारका विकल्प भी विपरीत अभिप्रायरूप मिथ्यात्वके कारण होता है। क्योंकि कर्मबन्धजन्य सुख-दुःखादि विभावरूप होनेसे आत्माके स्वभाव नहीं हैं। उनको आत्मस्वभावरूप समझना मिथ्या अभिनिवेश है। इसी प्रकार कर्म सम्बन्धसे प्राप्त स्त्री, पुत्र, धनादि परपदार्थोंमें—यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकारका विकल्प भी मिथ्यात्वका सूचक है। जो स्पष्ट रूपसे पर है उस पर आत्माका अधिकार कैसे हो सकता है।

इसी प्रकार यह जीव क्षणभंगुर पदार्थोंको मिथ्या अभिनिवेशके कारण स्थायी समझता है। पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे प्रत्येक पदार्थकी पर्याय अस्थायी है। उसमें स्थायित्वका निश्चय सही नहीं है। अतः उपर्युक्त मिथ्या अभिनिवेशके कारण यह जगत् (जीव जगत्) नष्ट हो रहा है। अर्थात् अज्ञानके कारण वह अपना अकल्याण कर रहा है। ऐसे इस जगत्को श्री अभिनन्दन जिनने जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूप को बतला कर सन्मार्ग पर लगाया था।

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थिति-
र्नचेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—क्षुधा, तृषा आदिके दुःखोंका प्रतिकार करनेसे और इन्द्रियोंके विषयों द्वारा जन्य स्वल्प सुखसे देह और देही (आत्मा) का सुखपूर्वक सदा अवस्थान नहीं रहता है। इसलिए उनके द्वारा देह और देहीका कोई गुण (उपकार) नहीं होता है। इस प्रकार अभिनन्दननाथ भगवान्ने इस जगत्को देह और देहीके विषयमें वास्तविक स्थितिका ज्ञान कराया था।

विशेषार्थ—संसारके प्राणी क्षुधा, तृषा आदिके दुःखोंसे सदा पीड़ित रहते हैं। इन दुःखोंका प्रतिकार करनेके लिए प्रयत्न भी किया जाता है। भोजन करनेसे क्षुधाका प्रतिकार हो जाता है और जलादिका पान करनेसे तृषाका प्रतिकार हो जाता है। यहाँ विचारणीय यह है कि क्षुधा आदिका प्रतिकार स्थायी होता है अथवा अस्थायी होता है। यह बात अनुभव सिद्ध है कि भोजनादिके द्वारा क्षुधा आदिका प्रतिकार कुछ समयके लिए ही होता है। कुछ समय बाद पुनः क्षुधा आदि की वेदना उत्पन्न हो जाती है और पुनः उसका प्रतिकार किया जाता है। यह क्रम जीवन पर्यन्त चलता रहता है। फिर भी देह और देही (आत्मा) की समस्याका स्थायी समाधान नहीं होनेसे उनकी स्थिति सदा सुखपूर्वक नहीं रहती है।

इसी प्रकार स्पर्शनादि पञ्च इन्द्रियोंके स्पर्श आदि विषयोंके सेवनसे आत्माको जो किंचित् सुखका अनुभव होता है, वह भी क्षणिक है। इससे कभी भी पूर्ण तथा स्थायी तृप्ति नहीं होती है। इन्द्रिय जन्य सुख विषयाभिलाषाको और भी अधिक प्रदीप्त कर देता है, जिससे प्राणी उसकी पूर्तिके लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। किन्तु उसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती है। इस कारण संसारी प्राणी सदा संतप्त रहता है। अतः इन्द्रियोंके विषयोंसे जन्य स्वल्प सुखसे देह और देही की स्थिति सदा सुखपूर्वक नहीं रहती है। यही कारण है कि क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारसे और इन्द्रिय विषय जन्य स्वल्प सुखसे शरीर और आत्माका कुछ भी उपकार (भला) नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा करते हुए आत्मा संसारके परिभ्रमणसे कभी नहीं छूट सकता है। इसलिए इन्द्रिय विषयोंसे राग घटाकर परम कल्याणकारी अनासक्ति योग की ओर ध्यान देना चाहिए। श्री अभिनन्दन जिनने इसी बातको भली भाँति समझाया था।

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो
भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्
कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—श्री अभिनन्दन जिनने जगत्को यह भी बतलाया था कि अनुबन्ध (आसक्ति) के दोषसे विषय सेवनमें अति लोलुपी हुआ भी यह मानव शासन आदिके भयसे इस लोकमें परस्त्रीसेवन आदि दुष्कृत्योंमें प्रवृत्ति नहीं करता है। तो फिर इस लोक और परलोक दोनोंमें ही विषयासक्तिके दोषोंको जानने वाला मनुष्य कैसे विषय सुखमें आसक्त हो जाता है, यह आश्चर्य की बात है।

विशेषार्थ—विषयासक्तिरूप दोषके कारण विषय सेवनमें अत्यन्त आसक्त रहने वाला मनुष्य भी इस लोकमें शासन आदिके भयसे परस्त्री सेवन आदि अकार्योंमें प्रवृत्त नहीं होता है। किसी की हिंसा करना, चोरी करना, परस्त्री-गमन करना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें दुष्कर्म कहा जाता है। विषयासक्त मानव नाना प्रकारके दुष्कर्मोंके करनेमें यथासंभव प्रवृत्ति करता है। फिर भी जब वह यह जानता है कि इस दुष्कर्मको करनेके कारण शासन दण्डित करेगा, समाज उसका बहिष्कार करेगा और परिजन भी उसे बुरी दृष्टिसे देखेंगे तब वह उस दुष्कृत्यको नहीं करता है। फिर जो मनुष्य यह जानता है कि विषयासक्तिके कारण इस लोकमें नाना प्रकारके दुःख भोगना पड़ते हैं और परलोकमें भी नरक, तिर्यञ्च आदि गतियोंमें अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगना पड़ता है, तो वह क्षणिक तृप्तिदायक विषय सुखमें कैसे आसक्त हो जाता है यह एक महान् आश्चर्य और खेद की बात है।

उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि दोनों लोकोंमें विषयासक्तिके दुष्परिणामोंको जानकर प्रत्येक मानवको विषयासक्तिसे विरक्त रहनेका प्रयत्न करना चाहिए। विषय सुखमें प्रवृत्तिका कारण विषयासक्तिके दोषोंको न जानना ही है। अतः प्रत्येक मानवको विषयासक्तिके दोषोंको जानना आवश्यक है। इस प्रकार श्री अभिनन्दन जिनने जीवोंको सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी थी।

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं
ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥ ५ ॥ (२०)

सामान्यार्थ—हे प्रभो! वह अनुबन्ध (विषयासक्ति) और तृष्णाकी अभिवृद्धि ये दोनों ही इस विषयासक्त मनुष्यको संताप उत्पन्न करनेवाले हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अल्प विषय सुखसे इस जीवकी स्थिति कभी भी सुखपूर्वक नहीं रहती है। यतः आपका ऐसा मत लोक हितकारी है इसलिए आप ही सत्पुरुषोंके लिए शरणभूत माने गये हैं।

विशेषार्थ—पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति विषयासक्त मनुष्यको कभी भी तृप्ति प्रदान नहीं करती है। प्रत्युत वह संताप ही उत्पन्न करती है। विषयासक्तिसे तृष्णा की अभिवृद्धि होती है। इस कारण विषयासक्त मानव प्राप्त विषयोंमें सन्तुष्ट न रहकर उत्तरोत्तर और भी अधिक विषयोंकी आकांक्षासे सदा पीड़ित रहता है। विषयासक्त नर इच्छित वस्तुके न मिलने पर उसकी प्राप्तिके लिए सदा प्रयत्नशील रहता है और मिल जाने पर उसके संरक्षण आदिके लिए चिन्तित रहता है। तथा वह चिन्ताओंसे कभी भी मुक्त नहीं हो पाता है। इस प्रकार उसके संतापकी परम्परा लगातार चालू रहती है। यही कारण है कि इन्द्रियोंके विषयों द्वारा उसे जो थोड़ा सा सुख प्राप्त होता है उससे वह संतुष्ट नहीं रहता है। और इसी कारण कभी भी उसका सुखपूर्वक अवस्थान नहीं बनता है। वह तो सदा दुःखका ही अनुभव करता रहता है।

श्री अभिनन्दन जिनका शासन लोक कल्याणकारी है। क्योंकि उसमें यह बतलाया गया है कि विषयोंमें आसक्त रहनेवाला कोई भी प्राणी सुख प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि कोई जीव वास्तवमें सुख प्राप्त करना चाहता है तो उसे विषयोंमें आसक्तिको छोड़कर विरक्तिका आश्रय लेना चाहिए। तभी उसका कल्याण हो सकता है। श्री अभिनन्दन जिनने ऐसा ही लोक हितकारी उपदेश दिया था। अतः वे स्वकल्याणके इच्छुक सत्पुरुषोंके शरणभूत हैं। उनकी शरणमें जाकर ही भव्य जीव अपना कल्याण कर सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५) श्री सुमति जिन स्तवन

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं
स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति
सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—हे सुमति मुनि ! आपका सुमति नाम सार्थक है। क्योंकि आपने जिस तत्त्वको माना है उसे सुयुक्तियोंसे प्रतिष्ठित किया है। और आपके मतसे भिन्न जो अन्य एकान्त मत हैं, उनमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि नहीं होती है।

विशेषार्थ—सर्वोत्कृष्ट मतिके धारक होनेके कारण पाँचवें तीर्थङ्करका सुमति यह नाम सार्थक है। वे यथा नाम तथा गुणवाले हैं। वे मुनि हैं, मुनि भी सामान्य नहीं, किन्तु केवलज्ञानी मुनि हैं। श्री सुमति जिनने स्वयं जिस अनेकान्तात्मक तत्त्वको माना है उसे अकाटय युक्तियों और प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। जीवादि तत्त्व सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य इत्यादि प्रकारसे अनेक धर्मात्मक हैं। जिस समय जिस धर्मके कथन करनेकी विवक्षा होती है उस समय वह धर्म प्रधान हो जाता है और शेष अविवक्षित धर्म गौण हो जाते हैं। इस प्रकार श्री सुमति जिनने अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्वकी सिद्धि की है।

इसके विपरीत जो सांख्य, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक आदि मत हैं उनमें समस्त क्रियाओं तथा कारकोंके स्वरूपकी सिद्धि नहीं होती है। यहाँ क्रिया और कारकको दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है। **कुम्भकारः चक्रेण घटं करोति।** कुम्भकार चक्र द्वारा घट बनाता है। यहाँ करोति यह क्रिया है। कुम्भकार कर्ता कारक है। घट कर्म कारक है तथा चक्र करण कारक है। इसी प्रकार सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण ये चार कारक और होते हैं। कुल सात कारक होते हैं। जानता है, पढ़ता है, खाता है, जाता है, काटता है, इत्यादि प्रकारसे क्रियाएँ भी कई प्रकार की होती हैं।

यहाँ श्री सुमति जिनने यह बतलाया है कि एकान्तवादियोंके मतमें क्रियाओं और कारकों के स्वरूपकी सिद्धि (उत्पत्ति और ज्ञप्ति) नहीं हो सकती है। बौद्धों द्वारा अभिमत क्षणिकैकान्तमें वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपसे माना गया क्षण (तत्त्व) क्षणिक होनेसे कार्योत्पत्तिके पहले ही नष्ट हो जाता है। अर्थात् कारणका कार्यके साथ किसी प्रकारका अन्वय नहीं बनता है। इसी प्रकार कार्यरूपसे माना गया क्षण कारणके प्रथम क्षणमें ही नष्ट हो जानेसे आत्मलाभ न कर सकनेके कारण असत् ही रहेगा। क्योंकि यहाँ कारण कार्यरूपमें परिणत नहीं होता है। जो खरविषाणके समान सर्वथा असत् है वह न तो किसी-का कारण हो सकता है और न किसीका कार्य ही हो सकता है। यदि असत्को कारण या कार्य माना जायेगा तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त होगा। फिर तो खरविषाण से किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति सम्भव हो जायेगी।

इसी प्रकार नित्यैकान्तमें भी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि जो तत्त्व सर्वथा नित्य है उसमें कभी भी कोई विक्रिया नहीं होती है। वह तो सदा अविकारी रहेगा और ऐसा अविकारी तत्त्व न तो किसीका कारण हो सकता है और न किसीका कार्य हो सकता है। इस प्रकार नित्यैकान्तमें कार्यकारण सम्बन्धके अभावके कारण किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। एकान्त मतमें उत्पत्तिकी तरह ज्ञप्ति भी नहीं बनती है। ज्ञप्तिका अर्थ है जानना। जब हम किसी वस्तुको जानते हैं तो हमारा जानना ज्ञप्ति कहलाता है। प्रमाण पदार्थ-का ज्ञापक होता है। किन्तु जब एकान्त मतमें पदार्थकी उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है तब प्रमाणके द्वारा उसकी ज्ञप्ति कैसे होगी। इस प्रकार वस्तुकी उत्पत्तिके अभावमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंकी स्थिति भी नहीं बनती है। जब कुम्भकार घटको बनाता है तभी कुम्भकार कर्ता और घट कर्म कहलाते हैं। घट की उत्पत्तिके अभावमें कर्ता, कर्म आदिकी व्यवस्था कैसे बनेगी। इस प्रकार एकान्तवादियोंके मतमें क्रिया और कारकके स्वरूपकी सिद्धि नहीं होती है। वह तो भगवान् सुमतिनाथ द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त शासनमें ही सम्भव है।

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं
भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे
तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम्॥ २॥

सामान्यार्थ—हे सुमति जिन ! आपने सुयुक्तियोंके द्वारा जिस जीवादि तत्त्व-को प्रतिष्ठापित किया है वह अनेकरूप तथा एकरूप है। क्योंकि अनेकरूपोंमें जो भेदज्ञान होता है और एकरूपमें जो अन्वयज्ञान होता है वह सत्य है। भेद और अभेदमेंसे किसी एकको उपचारसे मानना मिथ्या है। क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एक-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का लोप (अभाव) मानने पर दूसरेका भी अभाव हो जायेगा और तब यह तत्त्व निःस्वभाव हो जायेगा।

विशेषार्थ—प्रत्येक जीवादि तत्त्व द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे जीव अनेकरूप है और द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे एकरूप है। किसी मानवके विषयमें विचार करने पर ज्ञात होता है कि पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे उसका अन्तरंग स्वरूप सुख, दुःख, हर्ष, विषाद आदिके भेदसे अनेकरूप है और उसका बाह्यरूप बाल, कुमार, युवा, वृद्ध आदिके भेदसे अनेकरूप है। किन्तु द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे उसकी सुख-दुःखादि अवस्थाओंमें तथा बालकुमारादि अवस्थाओंमें 'यह वही है' ऐसी एकत्वकी प्रतीति होनेसे वह एकरूप है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक तत्त्व अनेक और एकके भेदसे द्विविधरूप है और उसको ग्रहण करनेवाला भेदज्ञान और अन्वयज्ञान अबाधित होनेके कारण निश्चय ही सत्य है।

बौद्धोंकी ऐसी मान्यता है कि पर्याय ही वास्तविक तत्त्व है, द्रव्य तो अनादि-कालीन अविद्याके द्वारा कल्पित होनेसे अवास्तविक है। क्षणिक चित्त आदि तत्त्वोंमें पर्यायोंकी एक सदृश सन्तति चालू रहनेके कारण केश, नख आदिकी तरह भ्रमवश उस सन्ततिमें एकत्वकी प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार बौद्धोंके अनुसार भेद-ज्ञान ही सत्य है और अन्वयज्ञान मिथ्या है।

सांख्यकी मान्यता है कि जीवादि द्रव्य ही वास्तविक है और उसकी सुख-दुःखादि पर्यायें औपाधिक (उपाधिजन्य) होनेसे अवास्तविक हैं। जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वभावसे स्वच्छ है किन्तु जपाकुसुमरूप उपाधिके संयोगसे उसमें लालिमा आ जाती है, उसी प्रकार प्रकृतिके संयोगसे पुरुषमें सुख-दुःखादि प्रति-भासित होने लगते हैं। यथार्थमें सुख-दुःखादि पुरुषके धर्म (पर्यायें) न होकर प्रकृतिके ही धर्म हैं।

नैयायिकोंका कहना है कि जीव द्रव्यमें अनेकत्व उपचारसे होता है। क्योंकि जीवसे अत्यन्त भिन्न सुख-दुःखादि पर्यायोंका अथवा ज्ञानादि गुणोंका जीवके साथ समवाय सम्बन्ध होनेके कारण जीवमें अनेकत्वका व्यवहार होता है। नैयायिकोंके अनुसार आत्मा पृथक् है और उसके ज्ञान, सुखादि गुण पृथक् हैं। अतः जीवमें एकत्वका व्यवहार वास्तविक है और अनेकत्वका व्यवहार अवास्तविक है।

उक्त एकान्तवादियोंका कथन युक्ति संगत नहीं है। केवल पर्यायकी सत्ता मानना अथवा केवल द्रव्यकी सत्ता मानना और पर्यायोंको औपाधिक मानना तथा द्रव्य और पर्यायोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता मानकर द्रव्यके साथ पर्यायोंका समवाय सम्बन्ध मानना और द्रव्यमें उपचारसे अनेकत्वकी कल्पना करना, ये सब एकान्त मत किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होते हैं। इसके विपरीत द्रव्यमें अबाध भेदज्ञानसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अन्वयज्ञानसे वास्तविक भेद और अभेद की सिद्धि होती है। दोनोंमेंसे किसी एकको सत्य मानकर उपचार (व्यवहार) से दूसरेकी कल्पना करना उचित नहीं है। उपचार तो मृषा (असत्य) होता है। कभी-कभी 'यह बालक तो सिंह है', ऐसा कह कर बालकको उपचारसे सिंह कह दिया जाता है, तो क्या बालक वास्तवमें सिंह हो जायेगा, कदापि नहीं। इस प्रकार अनेकत्व और एकत्व-मेंसे किसी एकका अभाव स्वीकार करने पर दूसरेका अभाव स्वतः हो जायेगा। क्योंकि उन दोनोंमें अविनाभाव सम्बन्ध है और एकके विना दूसरेका सद्भाव नहीं बन सकता है। ऐसी स्थितिमें जीवादि तत्त्व निःस्वभाव हो जायेगा। और निःस्वभाव होनेसे उसे अवाच्य मानना पड़ेगा। क्योंकि जो सर्वथा निःस्वभाव है उसका किसी भी प्रकारसे कथन नहीं किया जा सकता है। इतना ही नहीं, निःस्वभाव होनेसे जीवादि तत्त्व गगन कुसुमको तरह असत् भी हो जायेगा।

इस प्रकार श्री सुमति जिनेन्द्रने सुयुक्तिनीत जीवादि तत्त्वोंका भलीभाँति प्रतिपादन किया है।

सतः कथञ्चित्तदसत्त्वशक्तिः
खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं
स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत्॥ ३॥

सामान्यार्थ—सत्रूप जीवादि पदार्थोंकी कथंचित् असत्त्व शक्ति भी होती है। जैसे पुष्प वृक्षों पर है किन्तु आकाशमें नहीं है। यदि तत्त्व सब प्रकारके स्वभावसे रहित है तो वह प्रमाण रहित भी हो जायेगा। हे सुमति जिन ! आपके दर्शनसे भिन्न जो अन्य दर्शन हैं वे स्ववचन बाधित हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक पदार्थमें सत्–असत्, एक–अनेक, भेद–अभेद आदि विरोधी धर्म रहते हैं। यहाँ यह बतलाया गया है कि एक ही पदार्थमें सत्-असत् आदि विरोधी धर्म किस प्रकार रहते हैं। जीवादि पदार्थ स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे सत् है तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे असत् है। घट घटरूपसे सत् है और पटादिके रूपसे वह असत् है। सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म सर्वथा निरपेक्ष नहीं हैं, किन्तु सापेक्ष हैं। किसी अपेक्षासे जो सत् है वही किसी दूसरी अपेक्षासे असत् है। स्वद्रव्यादिचतुष्टय-की अपेक्षासे जो सत् है वही परद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे असत् है। जैसे पुष्पका अस्तित्व वृक्षों पर तो है किन्तु आकाशमें नहीं है। पुष्पका दृष्टान्त वादी और प्रतिवादी दोनोंको मान्य है। यहाँ पुष्पके अस्तित्व और नास्तित्वका विचार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिकरण की अपेक्षासे किया गया है। अर्थात् वृक्षाधिकरणकी अपेक्षासे पुष्प अस्तिरूप है और आकाशाधिकरणकी अपेक्षासे नास्तिरूप है।

कुछ लोग सत्ताद्वैतवादी हैं। उनका कहना है कि वस्तु सर्वथा सत् है, वह कथंचित् भी असत् नहीं है। यहाँ विचारणीय यह है कि यदि सत्त्वको ही वस्तुका स्वरूप माना जाय तो घटादि पदार्थ स्वद्रव्यादिकी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षासे भी सत् हो जायेगा। अर्थात् जिस प्रकार घट घटरूपसे सत् है उसी प्रकार वह पटरूपसे भी सत् हो जायेगा। किन्तु प्रतीतिविरुद्ध होनेसे ऐसा मानना उचित नहीं है। अतः सत्ताद्वैतवादियोंका मत असंगत है।

कुछ लोग शून्याद्वैतवादी हैं। उनका कहना है कि वस्तु सर्वथा असत् है, वह कथंचित् भी सत् नहीं है। यहाँ विचारणीय यह है कि यदि असत्त्वको ही वस्तुका स्वरूप माना जाय तो पदार्थ परद्रव्यादि की तरह स्वद्रव्यादि की अपेक्षासे भी असत् हो जायेगा। अर्थात् जिस प्रकार घट पटरूपसे असत् है उसी प्रकार घटरूपसे भी असत् हो जायेगा। किन्तु प्रतीतिविरुद्ध होनेसे ऐसा मानना उचित नहीं है। अतः शून्यताद्वैतवादियोंका मत भी असंगत है।

इसी बातको स्पष्ट करनेके लिए कहा गया है कि यदि पदार्थमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मोंका अभाव माना जायेगा तो ऐसा पदार्थ प्रमाण रहित हो जायेगा। अर्थात् उसका व्यवस्थापक कोई प्रमाण नहीं मिलेगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म पाये जाते हैं। वे दोनों परस्परमें अविनाभावी हैं। एकके बिना दूसरा हो ही नहीं सकता। अतः अस्तित्व-नास्तित्व स्वभावसे रहित वस्तुकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नहीं हो सकती है।

श्री सुमति जिनका मत अनेकान्तरूप है। इस मतसे भिन्न जो दूसरे मत हैं वे एकान्तरूप होनेसे स्ववचनबाधित हैं। कोई व्यक्ति कहता है कि मेरी माता बन्ध्या है। उसका यह कथन स्ववचनबाधित है। यदि वह अपनी माताका पुत्र है तो उसकी माता बन्ध्या कैसे हो सकती है। माता और बन्ध्या ये दोनों शब्द परस्परमें विरुद्ध हैं। यदि वह माता है तो बन्ध्या नहीं हो सकती और बन्ध्या है है तो माता नहीं हो सकती। इसी प्रकार सत्ताद्वैतवादियोंके मतमें यदि प्रमाण की सत्ता है तो द्वैतका प्रसंग आनेसे सत्ताद्वैतवाद स्वतः निरस्त हो जाता है। इसी तरह शून्याद्वैतवादियोंके मतमें भी यदि प्रमाण की सत्ता है तो प्रमाणके सद्भावसे द्वैतका प्रसंग प्राप्त होता है। और द्वैतका प्रसंग आनेसे शून्याद्वैतवाद स्वतः निरस्त हो जाता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति कहता है कि वस्तु न सत् है, न असत् है, न एक है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न अनेक है, अर्थात् सब स्वभावोंसे सर्वथा च्युत है, तो यहाँ प्रश्न होगा कि ऐसी वस्तुका साधक कोई प्रमाण है या नहीं। यदि उसका साधक कोई प्रमाण है तो ऐसा माननेमें स्ववचनबाधित दोष आता है। क्योंकि प्रमाण भी सर्वस्वभावच्युत होगा, तब वह किसीका साधक कैसे हो सकता है। यदि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है तो 'वस्तु सर्वस्वभावच्युत' है, यह कथन स्वतः निरस्त हो जाता है। और यदि कथनमात्रसे वस्तुकी सिद्धि होने लगे तो फिर कोई वस्तु ऐसी नहीं मिलेगी जिसकी सिद्धि न हो सके। इस प्रकार समस्त एकान्तवाद स्ववचन-बाधित हैं। श्री सुमति जिनका अनेकान्तवाद ही ऐसा है जो प्रमाण सिद्ध होनेसे सर्वथा अवाधित है।

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति
न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो
दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—सब प्रकारसे नित्य पदार्थ न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। उसमें क्रिया-कारक भाव भी नहीं बनता है। इसी प्रकार जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता है और सत्का कभी विनाश नहीं होता है। दीपक भी बुझजाने पर अन्धकाररूप पुद्गल पर्यायके रूपमें विद्यमान रहता है।

विशेषार्थ—अनेकान्त शासनमें प्रत्येक पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। इसके विपरीत सांख्य आदि कुछ एकान्तवादी पदार्थको सर्वथा नित्य मानते हैं। सर्वथा नित्यका अर्थ होता है कि जिस प्रकार वह द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है उसी प्रकार पर्यायकी अपेक्षासे भी नित्य है। ऐसा नित्य पदार्थ न तो उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है। उत्पन्न होने-का अर्थ है नवीन आकारको ग्रहण करना। और नष्ट होनेका अर्थ है पूर्व आकार-का परित्याग करना। किन्तु सर्वथा नित्य पदार्थमें ये दोनों बातें नहीं बन सकती हैं। क्योंकि उक्त दोनों बातें स्वीकार करने पर वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगा, कथंचित् अनित्य भी हो जायेगा। तब तो उसको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही पड़ेगा।

सर्वथा नित्य पदार्थमें क्रियाकी योजना तथा कारककी योजना भी नहीं बन सकती है। चलना, ठहरना आदि क्रिया कहलाती हैं और क्रियाको करनेवाला कारक कहलाता है। यदि सर्वथा नित्य वस्तुमें गमन क्रिया होती है तो सदा गमन क्रिया ही होती रहेगी और स्थगन क्रिया कभी भी नहीं होगी। यदि स्थगन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रिया होती है तो सदा वही क्रिया होती रहेगी और गमन क्रिया कभी नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार यदि सर्वथा नित्य पदार्थ गमन क्रियाका कारक होता है तो वह सर्वदा कारक ही बना रहेगा, अकारक कभी नहीं होगा और ऐसी स्थितिमें गमन क्रियाका कभी विराम नहीं होगा। यदि माना जाय कि वह कभी क्रियाका अकारक भी होता है तो फिर उसको सर्वदा क्रियाका अकारक ही मानना पड़ेगा। और तब उस पदार्थमें कभी भी क्रियाका सद्भाव नहीं बनेगा। इस प्रकार सर्वथा नित्य पदार्थमें क्रिया और कारककी योजना प्रमाण विरुद्ध है।

यहाँ क्षणिकवादी बौद्ध कहते हैं कि सर्वथा नित्य वस्तुमें उत्पाद और व्यय न बनने पर भी सर्वथा क्षणिक वस्तुमें वे बन जाते हैं। बौद्धोंका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। सर्वथा क्षणिक वस्तुका अर्थ होता है कि जिस प्रकार वह पर्याय की अपेक्षासे क्षणिक है उसी प्रकार द्रव्यकी अपेक्षासे भी क्षणिक है, तो ऐसी स्थितिमें पदार्थका निरन्वय उत्पाद और विनाश मानना पड़ेगा और तब पदार्थ सर्वथा असत् हो जायेगा। तथा जो सर्वथा असत् है उसकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। आकाशकुसुम, खरविषाण आदि सर्वथा असत् हैं। इनकी कभी भी उत्पत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार असत्का कभी जन्म नहीं होता है उसी प्रकार सत्का कभी सर्वथा नाश नहीं होता है। विद्यमान घट जब भग्न हो जाता है तब कहा जाता है कि घटका नाश हो गया। किन्तु यहाँ भी घटका सर्वथा नाश नहीं हुआ। घटरूप पर्यायका नाश हो जाने पर भी कपालरूप पर्यायकी उत्पत्ति हो जानेसे घट सर्वथा नष्ट नहीं हुआ। क्योंकि मृद्रूप द्रव्य दोनों पर्यायोंमें विद्यमान है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि विद्यमान घटका सर्वथा नाश न होने पर भी विद्यमान प्रदीपका सर्वथा नाश देखा जाता है। उक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि दीपक जब जलता है तब प्रकाश रूपसे उसका अस्तित्व रहता है और दीपकके बुझ जाने पर अन्धकार रूपसे उसका अस्तित्व रहता है। तात्पर्य यह है कि प्रकाश और अन्धकार ये दोनों पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। अतः दीपकमें प्रकाशरूप पर्यायका व्यय हो जाने पर भी अन्धकाररूप पर्यायकी उत्पत्ति हो जानेसे दीपकका सर्वथा नाश नहीं हुआ। क्योंकि पुद्गल द्रव्य दोनों पर्यायोंमें विद्यमान है।

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं
मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥ ५ ॥ (२५)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्यार्थ—विधि और निषेध ये दोनों कथंचित् इष्ट हैं, सर्वथा नहीं। विवक्षासे उनमें मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है। सुमतिनाथ जिनकी तत्त्व प्रणयन की यह पद्धति है। हे नाथ! आपकी स्तुति करनेवाले मुझमें मतिका उत्कर्ष हो। यही मेरी भावना है।

विशेषार्थ—विधान करनेका नाम विधि है और निषेध करनेका नाम निषेध है। जैसे घट 'घट है' ऐसा कथन विधि है और घट 'पट नहीं है' ऐसा कथन निषेध है। नित्यत्व, अनित्यत्व आदि परस्पर विरोधी दो धर्मोंमेंसे प्रथम धर्म विधि और उसका विरोधी धर्म निषेध कहा जाता है। यहाँ जो प्रकरण चल रहा है उसमें नित्यत्व विधि है और उसका प्रतिपक्षी अनित्यत्व निषेध है। विधि और निषेध ये दोनों किसी अपेक्षासे होते हैं, सर्वथा नहीं। जीवादि पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य हैं और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य हैं। न तो कोई पदार्थ सर्वथा नित्य है और न कोई पदार्थ सर्वथा अनित्य है। विवक्षाके कारण उन दोनों धर्मोंमेंसे एक मुख्य होता है और दूसरा गौण होता है। वक्ताकी इच्छाको विवक्षा कहते हैं। वक्ताकी दृष्टि जब द्रव्यके प्रतिपादन पर होती है उस समय द्रव्यमें नित्यत्वका विधान करनेवाली विधि मुख्य हो जाती है और निषेध (अनित्यत्व) गौण हो जाता है। इसी प्रकार जब वक्ताकी दृष्टि पर्यायके प्रतिपादन पर होती है उस समय निषेध (अनित्यत्व) मुख्य हो जाता है और विधि (नित्यत्व) गौण हो जाती है।

इस प्रकार श्री सुमति जिनने अनेकान्तवादके अनुसार जीवादि तत्त्वोंके प्ररूपणकी जो पद्धति बतलायी है वही सर्वोत्तम पद्धति है। इसके विपरीत अन्य एकान्तवादियोंकी पद्धति युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ स्तुतिकार कहते हैं कि हे सुमति जिन! आपमें मतिका उत्कर्ष है। आपकी मति सर्वोत्तम मति है। आपकी स्तुति करनेके फलस्वरूप मैं केवल यही कामना करता हूँ कि आपके प्रसादसे मुझमें भी ज्ञानका उत्कर्ष हो जिससे मैं भी आपके समान ज्ञानी (केवलज्ञानी) बन सकूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६) श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः
पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां
पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ।। १ ।।

सामान्यार्थ—श्रीपद्मप्रभ भगवान् पद्मपत्रके समान लेश्यावाले हैं तथा उनकी सुन्दरमूर्ति पद्मालय (लक्ष्मी) से आलिंगित है। हे पद्मप्रभ जिन! आप भव्यरूप कमलोंके विकासके लिए उसी प्रकार सुशोभित हुए थे जिस प्रकार कमलोंके विकासके लिए सूर्य सुशोभित होता है।

विशेषार्थ—षष्ठ तीर्थङ्करका पद्मप्रभ यह नाम सार्थक है। पद्मप्रभका अर्थ है—पद्मके समान है प्रभा (शरीरकी कान्ति) जिनकी। वे पद्मपत्रके समान द्रव्य लेश्याके धारक हैं। अर्थात् उनके शरीरका वर्ण कमलपत्रके समान लाल है। उनकी आत्मरूप मूर्ति और शरीररूप मूर्ति दोनों ही अतीव सुन्दर और मनमोहक हैं। उनकी आत्मरूप मूर्ति अनन्तज्ञानादि अन्तरंग लक्ष्मीसे आलिंगित है तथा रागादि विकारों-से रहित होनेके कारण अत्यन्त निर्मल है। इसी प्रकार उनकी शरीररूप मूर्ति श्वेत रुधिर, निःस्वेदत्व (पसीना रहित होना) आदि बाह्य लक्ष्मीसे आलिंगित है तथा सामुद्रिक शास्त्रमें वर्णित समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित है।

श्री पद्मप्रभ जिनने मोक्षमार्गके उपदेश द्वारा भव्य जीवोंका उसी प्रकार विकास किया था जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाशके द्वारा कमलोंका विकास करता है। भव्य जीवोंके विकासका अर्थ है—आत्मोन्नतिके मार्ग पर चलकर अनन्त-ज्ञानादिरूप लक्ष्मीको प्राप्त करना। श्री पद्मप्रभ जिनने हितोपदेशके द्वारा भव्य जीवोंका विकास अथवा कल्याण किया था।

बभार पद्मां च सरस्वतीं च
भवान् पुरस्तात् प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां
सर्वज्ञलक्ष्मीज्ज्वलितां विमुक्तः ।। २ ।।

सामान्यार्थ—हे पद्मप्रभ जिन! आपने अर्हन्त अवस्थासे पहले लक्ष्मी और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरस्वती दोनोंको ही धारण किया था। तदनन्तर जीवन्मुक्त होने पर सम्पूर्ण शोभासे युक्त तथा सर्वज्ञलक्ष्मीसे प्रदीप्त ऐसी सरस्वतीको ही धारण किया था।

विशेषार्थ—यहाँ प्रतिमुक्तिलक्ष्मी शब्दके अर्थ पर विचार करना है। मुक्तिलक्ष्मी और प्रतिमुक्तिलक्ष्मी इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक न होकर भिन्न-भिन्न होना चाहिये। ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका क्षय हो जाने पर मुक्तिलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। और चार घातिया कर्मोंका क्षय होने पर अर्हन्त अवस्थामें जिस मुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है उसको प्रतिमुक्तिलक्ष्मी कह सकते हैं। क्योंकि वह मुक्तिलक्ष्मीके सदृश है। अर्हन्तको जीवन्मुक्त भी कहते हैं। श्री पद्मप्रभ जिनने अर्हन्त अवस्थासे पहले अर्थात् गृहस्थावस्थामें लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको ही धारण किया था। जब वे गृहस्थावस्थामें थे तब अपार धन-सम्पत्तिके स्वामी थे तथा अवधिज्ञानादिरूप ज्ञानलक्ष्मीसे भी विभूषित थे। विद्याकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती भी उनके हृदयमें विद्यमान थी। वे अनेक विद्याओंके ज्ञाता और विशिष्ट श्रुतके धारक थे।

श्री पद्मप्रभ जिनने गृहस्थावस्थाके बाद जब अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त किया तब भी उन्होंने लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको ही धारण किया था। किन्तु गृहस्थावस्थाकी लक्ष्मी और सरस्वतीसे अर्हन्त अवस्थाकी लक्ष्मी और सरस्वतीमें महान् अन्तर है। उन्होंने जीवन्मुक्त अवस्थामें जिस लक्ष्मीको धारण किया था वह अनन्तज्ञानस्वरूप सर्वज्ञत्वरूप लक्ष्मी है। और यहाँ जो सरस्वती है वह दिव्यध्वनिरूप है तथा समस्त पदार्थोंके प्रतिपादन करनेके कारण द्वादशांगवाणीरूप भी है।

उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि श्री पद्मप्रभ जिनने अर्हन्त अवस्थामें ऐसी सरस्वतीको धारण किया था जो सर्वज्ञ लक्ष्मीसे प्रदीप्त है तथा समग्र शोभासे सम्पन्न है। सरस्वतीकी समग्र शोभा यही है कि वह दिव्यध्वनि द्वारा संसारके समस्त पदार्थोंका प्रतिपादन करती है तथा समवसरणादि विभूतिसे युक्त है। अर्हन्त अवस्थामें सरस्वती सर्वज्ञ लक्ष्मीसे युक्त होनेके कारण ही समस्त पदार्थोंका साक्षात् प्रतिपादन करनेमें समर्थ होती है।

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते
बालार्करश्मिच्छविरालिलेप।
नरामराकीर्णसभां प्रभा वा
शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम्॥ २॥

सामान्यार्थ—हे प्रभो! प्रातःकालीन बाल सूर्यकी किरणोंकी छविके समान आपके शरीरकी किरणोंके प्रसारने मनुष्यों और देवोंसे भरी हुई समवसरणसभाको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसी प्रकार व्याप्त किया था जिस प्रकार पद्मरागमणिके पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको व्याप्त कर लेती है।

विशेषार्थ—श्री पद्मप्रभ भगवान्‌के शरीरकी प्रभा प्रातःकालीन बालसूर्यकी किरणोंकी कान्तिके समान रक्तवर्ण आभाको लिए हुए थी। प्रातःकाल जब सूर्योदय होता है तब उसका रंग लाल होता है। श्रीपद्मप्रभ जिनके शरीरका वर्ण भी लाल है। प्रातःकालीन सूर्यकी किरणोंसे जो प्रभा निकलती है वह रक्तिमा (लालिमा) को लिए हुए होती है। इसी प्रकार श्री पद्मप्रभ जिनके शरीरकी किरणोंसे जो प्रभा निकलती है वह भी रक्तिमाको लिए हुए है। जब भगवान् समवसरणमें विराजमान होते हैं तब उनके शरीरकी रक्त किरणोंके प्रसारसे देवों और मनुष्योंसे भरी हुई समवसरण सभा व्याप्त हो जाती है। उस समय समवसरणकी शोभा दर्शनीय होती है। जिस प्रकार पद्मरागमणिका (रक्त वर्णवाला) कोई पर्वत हो और उसकी प्रभा उसके पार्श्वभागको व्याप्त कर रही हो, उसी प्रकार श्री पद्मप्रभ जिनके शरीरके किरणोंकी प्रभा समवसरण सभाको व्याप्त कर लेती है। उस सभामें उपस्थित समस्त जीव समूह श्री पद्मप्रभ जिनके समान लालिमाको लिए हुए प्रतीत होने लगता है। समवसरण सभामें केवल देव और मनुष्य ही उपस्थित नहीं रहते हैं, किन्तु जन्मजात वैर रखनेवाले गाय और सिंह जैसे पशु भी वहाँ जाते हैं और भगवान्‌की दिव्यध्वनिको सुनकर जन्मजात वैरभावको भूल जाते हैं। समवसरणका अर्थ है—जहाँ किसी भेदभावके बिना सबको समान रूपसे शरण (आश्रय) मिले।

इस श्लोकके तृतीय चरणमें 'प्रभा वा' के स्थानमें 'प्रभावत्' ऐसा भी एक पाठ है। यद्यपि 'प्रभा वा' और 'प्रभावत्' इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है, फिर भी यहाँ 'प्रभा वा' शब्द अधिक उपयुक्त है। क्योंकि **'शैलस्य प्रभा वा स्वसानुमालिलेप'** इस वाक्यमें प्रभा शब्द आलिलेप क्रियाका कर्ता है और वा शब्द यथा शब्दके अर्थका प्रतिपादक है।

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं
सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो
भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे पद्मप्रभ जिन! कामदेवके गर्वको नष्ट करनेवाले आपने सहस्रदल कमलोंके मध्यमें चलनेवाले अपने चरण-कमलोंके द्वारा आकाशतलको पल्लवोंसे व्याप्त जैसा करते हुए प्रजाजनोंकी विभूति (कल्याण) के लिए इस भूतल पर विहार किया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें एक काम पुरुषार्थ है। कामका सामान्य अर्थ है—इन्द्रिय विषयजन्य सुख और विशेष अर्थ है—स्त्री-पुरुष संसर्गजन्य सुख। संसारका प्रत्येक प्राणी कामके वशमें है और उस पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए कामको देव भी कहा गया है। श्री पद्मप्रभ जिनने ऐसे दुर्जयी कामदेव पर विजय प्राप्त कर ली है। अर्थात् वे काम-क्रोधादि विकारोंको जीतकर वीतराग हो गये हैं।

वीतराग होनेके बाद उन्होंने भव्य जीवोंके कल्याणके लिए इस भूमण्डल पर विहार किया। वीतराग होनेके कारण उनका विहार किसी राग या लोभ अथवा स्वार्थसे नहीं हुआ, किन्तु किसी इच्छाके विना ही भव्य जीवोंके नियोगसे हुआ। भगवान्के विहारसे भव्य जीवोंको विभूति की प्राप्ति होती है। हेय और उपादेय पदार्थोंमें विवेकका जागृत होना यह साक्षात् विभूति है और पुण्यबन्धके द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति होना यह परम्परा विभूति है। अतः भगवान्का विहार लोक-कल्याणके लिए होता है।

भगवान्के विहारमें एक विशेष बात यह होती है कि उनका विहार पृथिवी पर न होकर आकाशमें होता है। तथा देवकृत अतिशयके कारण उनके विहारके समय देवोंके द्वारा आकाशमें सहस्रदल कमलोंकी रचना की जाती है। उन कमलोंके ऊपर उनका स्पर्श न करते हुए भगवान्का विहार होता है। उन सहस्रदल कमलोंके मध्य भाग पर पड़नेवाले श्री पद्मप्रभ जिनके रक्तवर्ण पदतलोंसे ऐसा प्रतीत होता था, मानों आकाशतल अनेक पल्लवों (लाल-लाल किसलय दलों) से व्याप्त हो रहा हो।

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य
नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः।
प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्ति-
र्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥ ५ ॥ (३०)

सामान्यार्थ—हे ऋषिवर ! गुणसमुद्र और अज (पुनर्जन्मरहित) ऐसे आपके अनन्त गुणोंके लेशमात्रकी भी स्तुति करनेके लिए जब इन्द्र पहले ही समर्थ नहीं हुआ है, तब मेरे जैसा असमर्थ मनुष्य कैसे समर्थ हो सकता है। यह आपके प्रति मेरी तीव्र भक्ति ही है जो मुझ बालकसे इस प्रकारका स्तवन करा रही है।

विशेषार्थ—श्री पद्मप्रभ जिन अज हैं। उनका यह जन्म अन्तिम है। अब उनको संसार समुद्रमें आगे परिभ्रमण नहीं करना है। वे ऋषि हैं (सम्पूर्ण ऋद्धियोंके निधान हैं) तथा गुणोंके समुद्र हैं। उनके गुणोंकी कोई संख्या नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, उनमें तो अनन्त गुण विद्यमान हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि क्या कोई व्यक्ति उनके अनन्त गुणोंका कीर्तन या स्तुति कर सकता है। जन्मकल्याणक आदि के समय अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न तथा अवधिरूप विशिष्ट ज्ञानका धारक इन्द्र भी श्री पद्मप्रभ भगवान्के गुण समुद्रके एक अंश की भी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सका है।

यहाँ स्तुतिकार अपनी निरभिमानता और अल्पज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं कि जब विशिष्ट ज्ञानी इन्द्र आपकी स्तुति करनेमें असमर्थ रहा है तब अल्पज्ञ तथा स्तुति करनेमें अनभिज्ञ मैं आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूँ। अर्थात् कदापि नहीं कर सकता हूँ। तब फिर स्तुति करनेका कारण क्या है ? इसका उत्तर यही है कि स्तुतिकार की श्री पद्मप्रभ जिनमें तीव्र भक्ति है। उस तीव्र भक्तिका ही यह प्रभाव है जो स्तुतिकारको इस प्रकारके स्तवन करनेके लिये प्रवृत्त करा रहा है। तात्पर्य यह है कि स्तुतिकार असमर्थ होते हुए भी तीव्र भक्तिवश ही भगवान्-की स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ है। यहाँ स्तुतिकारने अपनेको बाल कहकर अपनी निरभिमानता तथा अल्पज्ञता प्रकट की है।

इस श्लोकके प्रथम चरणमें 'अजस्य'के स्थानमें 'अजस्रम्' ऐसा एक पाठान्तर है। कुछ मुद्रित प्रतियोंमें 'अजस्रम्' इस पाठको प्रमुखता दी गई है। किन्तु ऐसा करना ठीक प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि 'अजस्रम्' का अर्थ होता है–निरन्तर। अतः इन्द्र निरन्तर स्तुति करनेमें असमर्थ रहा है, ऐसा कहनेसे किसी विशेष अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। इन्द्रने निरन्तर स्तुति की भी नहीं है। वह तो जन्म-कल्याणक आदिके अवसर पर जब आया तब कुछ देर स्तुति करनेके बाद ही अपने स्थानको चला गया। इस श्लोकमें आखण्डल शब्दसे सौधर्म इन्द्रका ही उल्लेख किया गया है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) श्री सुपार्श्व जिन स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है यही पुरुषोंका स्वार्थ है, क्षण-भंगुर भोग स्वार्थ नहीं है। क्योंकि भोगोंमें तृष्णाकी अभिवृद्धि होनेसे ताप की शान्ति नहीं होती है। इस प्रकार भगवान् सुपार्श्वनाथने स्वार्थ और अस्वार्थका विवेक बतलाया है।

विशेषार्थ—सप्तम तीर्थंकरका नाम सुपार्श्व है। यह नाम सार्थक है। सुपार्श्वका अर्थ है—शोभन हैं शरीरके उभय पार्श्वभाग जिनके। श्री सुपार्श्व जिनके शरीरके दोनों पार्श्व भाग सुन्दर हैं, सर्वलक्षण सम्पन्न हैं। दोनों पार्श्व-भाग ही सुन्दर नहीं हैं, किन्तु उपलक्षणसे उनके शरीरके समस्त अवयव सुन्दर हैं। ऐसे श्री सुपार्श्व जिनने भव्य जोवोंके कल्याणके लिए स्वार्थ और अस्वार्थका भेद निम्न प्रकार बतलाया है।

पुरुषोंका आत्यन्तिक स्वास्थ्य स्वार्थ है। कर्म रहित आत्मस्वरूपमें रहनेवाले अनन्तज्ञानादि स्वस्थ कहलाते हैं और उनका जो भाव है उसे स्वास्थ्य कहते हैं। ऐसा स्वास्थ्य अविनश्वर होनेके कारण आत्यन्तिक स्वास्थ्य कहलाता है। स्वार्थ-का मतलब है—अपना प्रयोजन। आत्माके अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी जो स्वाभाविक परिणति है वही आत्माका स्वार्थ (साध्य) है। अतः अपना उत्थान या विकास ही आत्माका प्रयोजन या लक्ष्य है। इसके विपरीत क्षणभंगुर भोग आत्माका स्वार्थ नहीं है, वह तो अस्वार्थ है। भोगका अर्थ है—वैषयिक सुखों की अनुभूति। यह वैषयिक सुखोंकी अनुभूति बिजलीकी चमकके समान क्षणभंगुर है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय विषयोंके सेवनसे उत्तरोत्तर भोगाकांक्षा की वृद्धि होती है और तृष्णाकी अभिवृद्धि होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक ताप (दुःख) की शान्ति कभी नहीं हो सकती है। बुद्धिमान पुरुषोंका प्रयास शाश्वत स्वभाव की सिद्धिके लिए होता है। किन्तु भोगोंका स्वभाव शाश्वत नहीं है और भोग तापशान्ति कारक भी नहीं हैं। अतः भोग अस्वार्थ है, हेय है, त्याज्य है। इस प्रकार आत्माके स्वार्थ और अस्वार्थमें भेद जानकर, प्रत्येक विवेकी पुरुषका कर्तव्य है कि वह विषय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगोंकी ओरसे उदासीन होकर आत्माके स्वाभाविक गुणोंको प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। भगवान् सुपार्श्वनाथका यही उपदेश है।

अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं
यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च
स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥ २॥

सामान्यार्थ—जिस प्रकार अजंगम यंत्र जंगम पुरुषके द्वारा चलाया जाता है, उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर भी अजंगम होनेसे जीवके द्वारा संचालित होता है। इसके साथ ही यह शरीर घृणित, दुर्गन्धयुक्त, नश्वर और संतापको उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकारके शरीरमें स्नेह करना व्यर्थ है। श्री सुपार्श्व जिनने इस प्रकार की हितकारी बात बतलायी है।

विशेषार्थ—यहाँ शरीरके स्वरूपका विचार किया गया है। जीवके द्वारा धारण किया गया यह शरीर अजंगम है। अजंगमका अर्थ है—बुद्धिपूर्वक परिस्पन्द व्यापारसे रहित। जो बुद्धिपूर्वक परिस्पन्द व्यापार करता है वह जंगम कहलाता है। अजंगमको जड़ या अचेतन और जंगमको चेतन कहते हैं। अजंगम स्वयं हलन-चलन रूप व्यापार नहीं कर सकता है। अजंगम स्वयं गतिशील नहीं होता है और जंगम स्वयं गतिशील होता है। क्रीड़ाके लिए रचित हाथी, घोड़ा आदिका यंत्र अचेतन होनेसे बुद्धिपूर्वक दौड़ना, भागना आदि व्यापार नहीं कर सकता है। किन्तु यंत्ररूपी हाथी पर बैठा हुआ पुरुष उसका संचालन करता है, उसको जहाँ ले जाना चाहता है वहाँ ले जाता है।

जीवके द्वारा धारण किया गया यह शरीर भी पुद्गलरूप जड़ पदार्थसे निर्मित होनेके कारण अजंगम है। और अजंगम होनेसे वह गमन, आगमन आदि कार्योंमें स्वयं प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। वह तो चेतन पुरुषके द्वारा चलना, ठहरना, हाथ-पैर चलाना आदि स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस शरीरमें और भी अनेक दोष हैं। यद्यपि ऊपरसे देखनेमें यह शरीर अच्छा लगता है किन्तु इसके भीतर मल-मूत्र आदि घृणित पदार्थ भरे हुए हैं। अतः यह घृणास्पद है। यह दुर्गंध युक्त है। इसके मुख, गुदा, नाक आदि नव द्वारोंसे सदा दुर्गन्ध युक्त पदार्थ निकलते रहते हैं। यह विनश्वर है। जीवके द्वारा धारण किया गया शरीर कुछ समय तक ही रहता है और आयुकी समाप्ति होने पर अथवा रोग, शस्त्रप्रहार आदिके द्वारा असमयमें ही नष्ट हो जाता है। यह शरीर नाना प्रकारके दुःखोंका कारण होनेसे संताप उत्पन्न करनेवाला भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। ऐसे शरीरमें अनुराग करना कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं है। यदि अनुराग करना है तो मोक्षमें और मोक्षके कारणोंमें अनुराग करना चाहिए जिससे इस जीवका भला हो सके। शरीर पुद्गलरूप पर द्रव्य है। पर द्रव्यमें अनुरागको त्यागकर चेतन रूप स्वद्रव्यमें अनुराग करनेमें ही जीवका हित है। भगवान् सुपार्श्वनाथका यही हितकारी उपदेश है।

अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं
हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः
संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे सुपार्श्व जिन! आपने यह ठीक ही कहा है कि उपादान और निमित्त इन दोनों हेतुओं (कारणों) द्वारा उत्पन्न होनेवाले कार्यसे जिसका ज्ञान होता है ऐसी यह भवितव्यता दुर्निवार है। क्योंकि अहंकारसे पीड़ित यह प्राणी मंत्र-तंत्रादि सहकारी कारणोंको मिला कर भी सुखादि कार्योंके उत्पन्न करनेमें अनीश्वर (असमर्थ) है।

विशेषार्थ—यहाँ इस बातपर विचार किया गया है कि हितका उपदेश मिलनेपर भी सभी लोग हितके मार्गमें प्रवृत्त क्यों नहीं होते हैं। इसका कारण भवितव्यता है, जो हितके मार्गमें प्रवृत्त नहीं होने देती है। अब इस बातपर विचार करना है कि भवितव्यता क्या है। जीवकी समर्थ उपादानशक्तिका नाम भवितव्यता है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसीका दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्यकी समर्थ उपादानशक्ति कार्यरूपसे परिणत होनेके योग्य होती है। इसलिए समर्थ उपादानशक्ति, भवितव्यता और योग्यता ये तीनों एक ही अर्थको सूचित करते हैं। सामान्यरूपसे भवितव्यताको दैव, कर्म, अदृष्ट और भाग्य इन शब्दोंके द्वारा भी कहा जाता है। होनहार भी इसीको कहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि भवितव्यताका ज्ञान कैसे होता है। प्रत्यक्षसे तो भवितव्यताका ज्ञान संभव नहीं है। क्योंकि अतीन्द्रिय होनेसे वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती है। इसलिए यहाँ बतलाया गया है कि अनुमान प्रमाणसे भवितव्यताका ज्ञान होता है। अनुमान कई प्रकारका होता है। उनमेंसे कार्यलिंगजन्य अनुमानसे भवितव्यताका ज्ञान किया जाता है। कार्यको देखकर उसके कारणका ज्ञान करना कार्यलिंगजन्य अनुमान कहलाता है। जैसे पर्वतमें धूमको देखकर अग्निका ज्ञान करना कार्यलिंगजन्य अनुमान है। अग्नि धूमका कारण है और धूम अग्निका कार्य है। जब पर्वतमें धूम दृष्टिगोचर हो रहा है तो उसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण अग्नि भी वहाँ अवश्य है। इस प्रकार कार्यलिंगजन्य अनुमानसे पर्वतमें वह्नि का ज्ञान किया जाता है। लिंग का पर्यायवाची शब्द हेतु है। अतः कार्य-लिंगजन्य अनुमान को कार्यहेतुजन्य अनुमान भी कह सकते हैं।

कोई भी कार्य उपादान और निमित्त इन दो कारणोंके अनिवार्य संयोग द्वारा उत्पन्न होता है। दोनों में से किसी एक कारणके अभावमें कार्य त्रिकालमें भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। जब सुखादिरूप कोई कार्य हमारे दृष्टिगोचर होता है तब हम सोचते हैं कि इस कार्यका कोई कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण है भवितव्यता। हम भवितव्यताका अनुमान इस प्रकार करते हैं—भवितव्यता है, क्योंकि उसका कार्य सुखादि दृष्टिगोचर हो रहा है। यहाँ भवि-तव्यताके कार्यको देखकर भवितव्यताका अनुमान किया गया है। भवितव्यताके विषयमें यही कार्यलिंगजन्य अनुमान है। इस भवितव्यताकी शक्तिका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् होनहार टाली नहीं जा सकती है। जैसी भवि-तव्यता होती है उसीके अनुसार सब कारण कलाप मिल जाते हैं। अर्थात् उपादान की योग्यतानुसार कार्योत्पत्तिमें अन्य निमित्त कारण स्वयं मिल जाते हैं। अकलंक देवने 'अष्टशती' में भवितव्यताके सम्बन्धमें एक बहुत ही सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

अर्थात् जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही बुद्धि हो जाती है, व्यवसाय (प्रयत्न) भी वैसा ही होता है और सहायक भी वैसे ही मिल जाते हैं।

उक्त श्लोक को आचार्य अकलंकदेव ने 'अष्टशती' में दैव और पुरुषार्थके प्रकरण में उद्धृत किया है। यतः आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्री में अष्टशतीको आत्मसात् कर लिया है, अतः अष्टसहस्री की कारिका ८९ की व्याख्यामें उक्त श्लोक उपलब्ध होता है। अभी तक यह ज्ञात नहीं था कि उक्त श्लोक किस ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है। किन्तु अभी यह सुनिश्चितरूपसे ज्ञात हुआ है कि उक्त श्लोक इतिहास प्रसिद्ध चाणक्य की पुस्तक 'चाणक्यनीतिदर्पणम्' से उद्धृत किया गया है। इस पुस्तकमें उक्त श्लोक पाया गया है।

यहाँ यह बतलाया गया है कि भवितव्यता या उपादान शक्तिके बिना केवल मंत्र-तंत्रादि बाह्य सामग्री के सन्निधानसे यह जीव सुख-दुःखादिका कर्त्ता नहीं हो सकता है। मैं सुखादिका कर्त्ता हूँ, इस प्रकारके अहंकारसे पीड़ित यह संसारी प्राणी भवितव्यता निरपेक्ष होकर मंत्र-तंत्रादि अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादि कार्योंको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता है। यदि भवितव्यताके बिना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्य सामग्री के सन्निधान मात्रसे सुखादि कार्यकी निष्पत्ति सम्भव हो तो एक समान मंत्र-तन्त्रादि का अनुष्ठान करनेवाले तथा एक समान अन्य बाह्य सामग्री-को एकत्रित करनेवाले सब लोगोंको समान फल मिलना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। उनमेंसे किसीका प्रयत्न सफल होता है और दूसरोंका प्रयत्न निष्फल हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि जिनकी भवितव्यता अनुकूल होती है उनका प्रयत्न सफल हो जाता है और जिनकी भवितव्यता प्रतिकूल होती है उनका प्रयत्न निष्फल हो जाता है।

यहाँ भवितव्यता के प्रकरणमें पुरुषार्थका भी विचार कर लेना चाहिए। कार्योत्पत्तिमें भवितव्यता अन्तरंग (उपादान) कारण है और पुरुषार्थ बहिरंग (निमित्त) कारण है। किसी भी कार्यकी उत्पत्ति दोनों कारणोंसे होती है। अनेकान्तवादी जैनदर्शनमें दैव और पुरुषार्थ दोनोंका समन्वय किया गया है। दैव और पुरुषार्थके सम्बन्धमें आप्तमीमांसामें कहा गया है—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

अर्थात् जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अबुद्धिपूर्वक घटित हो जाता है उसे अपने दैवकृत समझना चाहिए। यहाँ पौरुष गौण है और दैव प्रधान है। और जो इष्ट या अनिष्ट कार्य बुद्धिपूर्वक घटित होता है उसे अपने पौरुषकृत समझना चाहिए। यहाँ दैव गौण है और पौरुष प्रधान है।

इसी विषयमें आचार्य अकलंकदेवने 'अष्टशती' में लिखा है—

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थसिद्धिः। तदन्यतरापायेऽघटनात्।

अर्थात् योग्यता अथवा पूर्व कर्म दैव कहलाते हैं। ये दोनों अदृष्ट हैं। तथा इस जन्ममें किये गये पुरुष व्यापारको पौरुष कहते हैं। यह दृष्ट होता है। इन दोनोंसे अर्थकी सिद्धि होती है। और इन दोनोंमें से किसी एकके अभावमें अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है।

यहाँ तृतीय श्लोकमें जो 'अनीश्वरः' शब्द आया है उसका यह भी अर्थ निकलता है कि संसारी जीवोंके सुख-दुःखादिका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। ईश्वर-वादियों का कहना है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरिता गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा[1] ॥

१. महाभारत, वनपर्व ३०।२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् यह संसारी प्राणी अज्ञ है तथा अपने सुख और दुःखको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। यह ईश्वर की प्रेरणासे स्वर्ग या नरकमें जाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह जीव पूर्णरूपसे ईश्वर के अधीन है। ईश्वर ही इसे सुखी या दुःखी करता है और ईश्वर ही इसे स्वर्ग या नरकमें भेजता है।

ईश्वरवादियों का उक्त कथन तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि एक स्वभाववाला ईश्वर स्वर्ग-नरकादि की रचना, सुख-दुःखादि की उत्पत्ति तथा जीवों को स्वर्ग-नरकादिमें भेजने रूप विभिन्न कार्योंको नहीं कर सकता है। ईश्वर दयालु भी है। तब वह किसीको सुखी और किसी को दुःखी क्यों बनाता है। यदि कहा जाय कि जिसका जैसा अदृष्ट होता है उसीके अनुसार ईश्वर उसको फल देता है, तो फिर ईश्वर सुखादि कार्योंके करनेमें स्वतन्त्र नहीं रहा, वह तो अदृष्टके अधीन होनेके कारण परतन्त्र हो गया। अतः जीवों के सुख-दुःखादि कार्योंका कारण ईश्वर नहीं है। किन्तु भवितव्यता ही उनका कारण है। इस प्रकार कार्य और कारणके विषयमें श्री सुपार्श्व जिनका उपर्युक्त कथन प्रमाणसंगत होनेसे उपादेय है।

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो
नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो
वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे सुपार्श्व जिन ! आपने यह भी बतलाया है कि यह जीव मृत्युसे डरता है, परन्तु उससे छुटकारा नहीं मिलता। यह सदा कल्याण अथवा निर्वाण की इच्छा करता है, किन्तु इसका लाभ नहीं होता। फिर भी भय और कामके वशीभूत हुआ यह अज्ञानी जीव व्यर्थ ही स्वयं संतप्त होता रहता है।

विशेषार्थ—संसार का प्रत्येक प्राणी सदा मृत्यु से डरता रहता है। कोई भी प्राणी अपनी मृत्यु नहीं चाहता है, किन्तु अधिक से अधिक जीना चाहता है। फिर भी भवितव्यतावश मृत्यु से छुटकारा नहीं मिलता है। प्रत्येक संसारी प्राणी की मृत्यु अनिवार्य है। इसी प्रकार यह जीव सदा ही शिव (कल्याण अथवा निर्वाण) की इच्छा करता रहता है। फिर भी भवितव्यता के प्रतिकूल होनेपर उसका लाभ नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि चाहने मात्रसे कुछ नहीं होता है। अनुकूल कारणोंके मिलनेपर ही कार्यकी सिद्धि होती है।

यह संसारी प्राणी बालक सदृश है। अर्थात् विवेक रहित है। भय और कामके वशीभूत है। मरण आदिके समय जो त्रास होता है वह भय है और सुखादि की अभिलाषाका नाम काम है। भय और कामके वशीभूत होकर यह अज्ञानी जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखादिकी प्राप्तिके लिए व्यर्थ ही स्वयं तप्तायमान होता रहता है, कष्ट उठाता रहता है। अतः जो विवेकी जीव है वह जानता है कि भवितव्यताके प्रतिकूल होनेपर कार्यकी सिद्धि नहीं होती है। अतः वह अनुकूल भवितव्यताकी सिद्धिके लिए प्रयत्न करता है और भवितव्यता के अनुकूल होनेपर समस्त इष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं। श्री सुपार्श्व जिनका ऐसा उपदेश जानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिए।

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता
मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता
मयापि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ॥ ५ ॥ (३५)

सामान्यार्थ—हे सुपार्श्व जिन! आप सब तत्त्वोंके प्रमाता हैं। बालकको माताके समान अज्ञानी जनोंको हितका उपदेश देनेवाले हैं। और गुणोंकी खोज करनेवाले जनोंके नेता हैं। इसलिए मैं भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

विशेषार्थ—भगवान् सुपार्श्वनाथ जीवादि समस्त तत्त्वोंके प्रमाता हैं। प्रमाताका अर्थ है—संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित सम्यग्ज्ञान (केवलज्ञान) के द्वारा समस्त पदार्थोंका ज्ञाता। यहाँ सब तत्त्वोंके अन्तर्गत हेय और उपादेय तत्त्व तथा उनके कारणभूत तत्त्व विशेषरूपसे दृष्टव्य हैं। क्योंकि इन्हींके ज्ञानसे संसारी जीवोंका कल्याण होता है। संसार हेय तत्त्व है और मोक्ष उपादेय तत्त्व है। संसारके कारण मिथ्यादर्शनादि हेय हैं और मोक्षके कारण सम्यग्दर्शनादि उपादेय हैं। जिस प्रकार माता अपने बालकके भलेके लिए बालक (सन्तान) को हितकारी बात सिखलाती है, उसी प्रकार सुपार्श्वनाथ भगवान्ने बाल सदृश (हेयोपादेयके विवेकसे रहित) अज्ञानी जीवोंके कल्याणके लिए निःश्रेयस और उसके कारण सम्यग्दर्शनादिका उपदेश दिया है। जो जीव मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंके अन्वेषणके इच्छुक हैं उनके नेता श्री सुपार्श्व जिन ही हैं। गुणावलोकी जनका अर्थ है—भव्यजन। नेताका अर्थ है—सन्मार्गप्रवर्तक। तात्पर्य यह है कि सुपार्श्वनाथ भगवान् सब जीवोंके सन्मार्गप्रवर्तक नहीं हैं। किन्तु जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि गुणोंको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें उन्होंने उनकी प्राप्तिका उपाय बतला दिया है।

यहाँ सर्व तत्त्व शब्दके द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका ग्रहण करना चाहिए। आचार्य गृद्धपृच्छने बतलाया है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्व सात होते हैं[1]। उपरि उल्लिखित हेय और उपादेय तत्त्वोंका भी इन्हीं सात तत्त्वोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। जिसमें उपयोग (ज्ञान और दर्शन) पाया जाता है वह जीव है। उपयोगको चेतना भी कहते हैं। जो उपयोग रहित होता है वह अजीव है। अजीवके पाँच भेद होते हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है वह पुद्गल है। पुद्गल रूपी द्रव्य है और शेष धर्मादि चार द्रव्य अरूपी हैं। जो शुभ और अशुभ कर्मोंके आगमनका द्वाररूप होता है वह आस्रव है। मन, वचन और कायकी क्रियाका नाम योग है। इस योग द्वारा कर्म आते हैं। अतः योगको आस्रव कहते हैं। कषाय सहित होनेके कारण जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है वह बन्ध कहलाता है। अर्थात् कार्मण वर्गणाओंका आत्मप्रदेशोंके साथ संश्लेषरूप सम्बन्धको प्राप्त होना ही बन्ध है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्धके हेतु हैं। कर्मोंके आगमनको रोक देना संवर है। अर्थात् आस्रवका निरोध करना संवर है। यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रके द्वारा होता है। आत्माके साथ बँधे हुए कर्मोंका झड़ जाना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकारकी होती है—सविपाक और अविपाक। फलकालके प्राप्त होनेपर फल देकर कर्मोंकी जो स्वतः निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा है। तथा फलकालके प्राप्त हुए बिना ही तप आदिके अनुष्ठानसे उदीरणा द्वारा फल देकर जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है। बन्धके हेतुओंके अभाव तथा निर्जराके द्वारा सब कर्मोंका सर्वथा क्षय हो जाना मोक्ष है। श्री सुपार्श्व जिन उक्त सब तत्त्वोंके प्रमाता थे।

यहाँ स्तुतिकार कहते हैं कि यतः श्री सुपार्श्व जिन सब तत्त्वोंके प्रमाता, सबजीवोंके हितानुशास्ता और गुणावलोकी जनोंके नेता हैं, अतः मेरे द्वारा स्तुत्य हैं। मैं भक्तिपूर्वक मन, वचन और कायसे श्री सुपार्श्व जिनकी स्तुति कर रहा हूँ।

कुछ मुद्रित प्रतियोंमें इस श्लोकके अन्तिम चरणमें 'परिणूयसेऽद्य' ऐसा पाठ है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि उक्त श्लोकमें कर्ता 'भवान्' है। अतः भवान् कर्ताके साथ 'परिणूयते' क्रियाका सम्बन्ध ठीक बैठता है। यहाँ 'परिणूयसे' ऐसा क्रिया पद रखनेपर अलगसे 'त्वम्' कर्ताका उपसंहार करना पड़ेगा, जो कि अनावश्यक है। अतः श्री मुख्तार सा० ने 'परिणूयसे'के स्थानमें परिणूयते' पाठ रखा है जो सर्वथा उपयुक्त है।

●

१. जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १/४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(८) श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं
चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं
जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ।। १ ।।

सामान्यार्थ—चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्णसे युक्त, संसारमें द्वितीय चन्द्रमाके समान मनोहर, महात्माओंके द्वारा वन्दनीय, ऋद्धिधारी मुनियोंके स्वामी, कर्म शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवाले तथा अपने अन्तःकरणके कषाय-बन्धनको जीतनेवाले, ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान्‌की मैं वन्दना करता हूँ ।

विशेषार्थ--अष्टम तीर्थङ्करका चन्द्रप्रभ यह नाम सार्थक है । चन्द्रप्रभका अर्थ है--चन्द्रमाके समान है प्रभा (कान्ति) जिनकी । उनका वर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्ण है । वे अपनी सुन्दरताके कारण ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे इस भूमण्डल पर दूसरे चन्द्रमा हों । एक चन्द्रमा तो आकाशमें सुशोभित होता है, किन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् इस भरत क्षेत्रमें द्वितीय चन्द्रमाके रूपमें सुशोभित हुए हैं । यहाँ एक विशेष बात यह है कि चन्द्रमा तो केवल रात्रिमें शोभित होता है, परन्तु श्री चन्द्रप्रभ जिन केवलज्ञानरूप प्रभाके द्वारा रात-दिन सुशोभित होते हैं । इस कारण वे चन्द्रमासे भी अधिक दीप्तिमान् हैं । इस प्रकार यहाँ चन्द्रप्रभ भगवान्‌के बाह्य स्वरूपका वर्णन किया गया है ।

चन्द्रप्रभ भगवान् कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेके कारण जिन कहलाते हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी आत्माके कषायबन्धनको भी जीत लिया है । क्रोधादि चार कषायें कर्मबन्धनकी कारण हैं तथा विकारीभावरूप हैं । कषाय-बन्धनके जीतनेपर ही आत्मा वीतराग होता है । चन्द्रप्रभ भगवान् जिन और वीतराग हैं । इसीलिए वे इन्द्र आदि महान् आत्माओं द्वारा पूज्य हैं और गण-धरादि ऋषियोंके इन्द्र (स्वामी) हैं । यह श्री चन्द्रप्रभ जिनके अन्तरंग स्वरूपका वर्णन है ।

यहाँ विशेष दृष्टव्य यह है कि संस्कृत टीकाकारने 'जितस्वान्तकषायबन्धम्'के अतिरिक्त 'जितास्वन्तकषायबन्धम्' तथा 'जितास्वान्तकषायबन्धम्' ये दो पाठ और बतलाये हैं । 'जितास्वन्तकषायबन्धम्' का अर्थ है—जिसका सरलतासे विनाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाता है वह स्वन्त कहलाता है। कषायबन्धनका विनाश सरलतासे नहीं होता है। अतः वह अस्वन्तकषायबन्धन है। और श्री चन्द्रप्रभ जिन ऐसे कषायबन्धन को जीतनेवाले हैं। सांख्य मत में प्रकृतिके विकाररूप मनको स्वान्त कहते हैं। उस मनका क्रोधादि कषायोंके द्वारा बन्धन किया जाता है, आत्माका नहीं। ऐसा सांख्यका मत है। 'जितास्वान्तकषायबन्धम्' इस पाठके द्वारा सांख्य मतका निराकरण किया गया है। अर्थात् स्वान्त (मन) का कषायोंके द्वारा बन्धन नहीं होता है, किन्तु अस्वान्त (आत्मा) का कषायोंके द्वारा बन्धन होता है। चन्द्रप्रभ भगवान् आत्माके उक्त प्रकारके कषाय बन्धन को जीतनेवाले हैं। मैं ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान् की वन्दना करता हूँ।

यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं
तमस्तमोऽरेरिव रश्मिभिन्नम्।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च
ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम्॥ २॥

सामान्यार्थ—जिनके शरीरके दिव्य प्रभामण्डलसे विदीर्ण बाह्य अन्धकार और जिनके ध्यानरूप प्रदीपके अतिशयसे विदीर्ण अनेक प्रकारका मानसिक अज्ञानान्धकार उसी प्रकार नष्ट हो गया था जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे विदीर्ण होकर रात्रिका अन्धकार नष्ट हो जाता है।

विशेषार्थ—जब सूर्योदय होता है तब उसकी तेज किरणोंसे लोकमें फैला हुआ रात्रिकालीन अन्धकार छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। सूर्य केवल बाह्य अन्धकारका नाशक है। किन्तु चन्द्रप्रभ भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके अन्धकारके नाशक हैं। उनके शरीरकी परम कान्तिके प्रभामण्डल द्वारा निकटवर्ती बाह्य अन्धकार नष्ट हो जाता है। अर्थात् उनके शरीरसे निकलनेवाली दिव्य ज्योतिके समक्ष रात्रिकालीन बाह्य अन्धकार पलायित हो जाता है। इसी प्रकार उनके शुक्लध्यानरूपी प्रदीपके परम प्रकर्षरूप अतिशयके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मजन्य आत्माका समस्त आभ्यन्तर अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। जब शुक्लध्यानका परम प्रकर्ष होता है तब ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञानरूप सूर्यका उदय हो जाता है। इस कारण उस समय उनकी आत्मामें प्रचुर मात्रामें विद्यमान आभ्यन्तर अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। श्री चन्द्रप्रभ जिन केवल अपने अज्ञानान्धकारको ही नष्ट नहीं करते हैं किन्तु धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवोंके अज्ञानान्धकारको भी नष्ट करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता
वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा
गजा यथा केसरिणो निनादैः ।। ३ ।।

सामान्यार्थ—जिन चन्द्रप्रभ भगवान्‌के वचनरूप सिंहनादोंके द्वारा अपने मतपक्ष की सुस्थितिका घमण्ड करनेवाले प्रवादी जन उसी प्रकार मद रहित हो गये थे, जिस प्रकार सिंहकी गर्जनाओं द्वारा मदसे गीले गण्डस्थल वाले हाथी मदरहित हो जाते हैं ।

विशेषार्थ—चन्द्रप्रभ भगवान्‌ने जीवादि तत्त्वोंका उपदेश दिया, अनेकान्त शासनका प्रतिपादन किया तथा भव्य जीवोंको सन्मार्गमें चलनेके लिए प्रेरित किया । उनके जितने भी प्रवचन हुए वे सब युक्तिसंगत एवं प्रमाणसंगत होनेसे अकाट्य हैं, अजेय हैं । इसीलिए उनके वचनोंको सिंहनाद कहा गया है । उनकी उस वचनरूप सिंह गर्जना को सुनकर अनेक प्रवादी (एकान्तवादी) जन मदरहित हो गये थे । श्री चन्द्रप्रभ जिनके वचन सुननेके पहले एकान्तवादियों को अपने मतका बहुत घमण्ड था । वे समझते थे कि हमारा ही मत श्रेष्ठ है, बाधारहित है । अतएव वह सुस्थित है, अकाट्य है । किन्तु जब उन्होंने चन्द्रप्रभ भगवान्‌के वचनोंको सुना तब उन्हें सम्यक् क्या है और मिथ्या क्या है इसका विवेक हो गया और विवेक हो जानेपर उन्हें अपने मतके श्रेष्ठ होनेका जो गर्व था वह चूर-चूर हो गया । वे मदरहित होकर विनम्र हो गये और चन्द्रप्रभ भगवान्‌के भक्त हो गये ।

लोकमें प्रसिद्ध है कि हाथियोंके मस्तकसे मद झरता रहता है और उससे हाथियोंके कपोल गीले हो जाते हैं । मदस्रावी हाथी मदमस्त रहते हैं । वे समझते हैं कि हमसे बड़ा और कोई नहीं है । किन्तु जब वे सिंह की गर्जना सुनते हैं तब उनका मद चूर-चूर हो जाता है । अब वे समझने लगते हैं कि हमसे सबल तो सिंह है और सिंहके समक्ष हम निर्बल हैं । अतः जिस प्रकार सिंहके समक्ष हाथी निर्मद हो जाते हैं उसी प्रकार चन्द्रप्रभ भगवान्‌के समक्ष एकान्तवादी निर्मद हो गये थे ।

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः
पदं बभूवाद्‌भुतकर्मतेजाः ।
अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः
समन्तदुःखक्षयशासनश्च ।। ४ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्यार्थ--जो सर्वलोकमें परमेष्ठिताके पदको प्राप्त हुए थे, जो अद्भुत कर्मतेजके धारक थे, जिन्होंने अनन्त तेजरूप अविनाशी विश्वचक्षु (केवलज्ञान) को प्राप्त किया था और जिनका शासन समस्त दुःखोंका क्षय करनेवाला था, ऐसे थे भगवान् चन्द्रप्रभ।

विशेषार्थ—जो परम पदमें स्थित होता है उसे परमेष्ठी कहते हैं। परमेष्ठी पाँच होते हैं—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंका नाश हो जाने पर तेरहवें गुणस्थानमें अरहन्त परमेष्ठी पद प्राप्त होता है। अरहन्त परमेष्ठीके ४६ मूलगुण होते हैं। ४ अनन्तचतुष्टय, ८ प्रातिहार्य और ३४ अतिशय ये ४६ मूलगुण हैं। जन्मके १० अतिशय, केवलज्ञानके १० अतिशय और देवकृत १४ अतिशय। इस प्रकार कुल ३४ अतिशय होते हैं। चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार अघातिया कर्मोंका क्षय हो जाने पर सिद्ध परमेष्ठी पद प्राप्त होता है। सिद्ध परमेष्ठीके ८ मूलगुण होते हैं जो इस प्रकार हैं— सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधित्व और अनन्तवीर्य।

आचार्य परमेष्ठी संघके अधिपति होते हैं। संघमें अनुशासन रखना इनका प्रधान कर्तव्य है। दीक्षा, प्रायश्चित्त आदिका कार्य भी इन्हींके द्वारा सम्पन्न होता है। इनके ३६ मूलगुण होते हैं जो इस प्रकार हैं— १० धर्म, १२ तप, ६ आवश्यक, ३ गुप्ति और ५ आचार। उपाध्याय परमेष्ठी ११ अंग और चौदह पूर्वके पाठी होते हैं। वे स्वयं पढ़ते हैं और अन्य भव्य जीवोंको पढ़ाते हैं। इनके ११ अंग और १४ पूर्व ये २५ मूलगुण होते हैं। साधु परमेष्ठी उन्हें कहते हैं जो सब प्रकारके आरंभ और परिग्रह से रहित होकर सदा ज्ञान और ध्यान में लीन रहते हैं। इनके २८ मूलगुण होते हैं जो इस प्रकार हैं--५ महाव्रत, ५ समिति तथा वस्त्र त्याग, स्नान त्याग, केशलोंच, पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखना, दिनमें एक बार खड़े-खड़े भोजन ग्रहण करना, भूमि पर शयन करना इत्यादि १८ अन्य मूलगुण।

पाँचों परमेष्ठियोंमें अरहन्त परमेष्ठीका नाम प्रथम है। जब चन्द्रप्रभ भगवान् अर्हन्त हो गये तब उन्होंने त्रिभुवनमें परमेष्ठिता (परमाप्तता) के पदको प्राप्त कर लिया था। उनका कर्मतेज आश्चर्य जनक था। उन्होंने कर्म (कठोर तपश्चरण) के द्वारा केवलज्ञानरूप तेजको प्राप्त किया था। अथवा उनका केवलज्ञानरूप तेज सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रबोधन व्यापाररूप कर्ममें निमित्तभूत था। केवलज्ञानरूप अविनश्वर तेज ही समस्त लोकालोकको प्रकाशित करनेवाला उनका चक्षु है। वे केवलज्ञानरूप चक्षुके द्वारा विश्वके समस्त पदार्थोंको देखते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। उनका शासन (उपदेश) चार गतियोंमें होनेवाले समस्त दुःखोंका सब प्रकारसे क्षय करनेवाला है। तात्पर्य यह है कि चन्द्रप्रभ भगवान्‌के उपदेशको सुनकर और तदनुकूल आचरण करके भव्य जीव संसारके परिभ्रमणसे मुक्त हो जाते हैं।

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां
विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः
पूयात् पवित्रो भगवान् मनो मे ॥ ५ ॥ (४०)

सामान्यार्थ—जो भव्य जीवरूप कुमुदिनियोंके लिए चन्द्रमा हैं, जो रागादि दोषरूप मेघ कलंकसे रहित हैं, जो सुस्पष्ट वचनोंके द्वारा उत्पन्न न्यायरूप किरणोंकी मालासे युक्त हैं और जो पवित्र हैं, ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान् मेरे मनको पवित्र करें।

विशेषार्थ—यहाँ चन्द्रप्रभ भगवान्‌को रूपकालंकारसे चन्द्रमा कहा गया है। रात्रिमें चन्द्रमाका उदय होनेपर कुमुदनियोंका विकास होता है। दिनमें सूर्य द्वारा कुमुदोंका विकास होता है और रात्रिमें चन्द्र द्वारा कुमुदनियोंका विकास होता है। चन्द्रप्रभ भगवान्‌के द्वारा भव्य जीवरूप कुमुदनियोंका विकास होनेके कारण उनको चन्द्रमा कहा गया है। आकाशमें स्थित चन्द्रमा रात्रिमें मेघरूप कलंकके आवरणसे आच्छादित हो जाता है तथा उसमें मृगछालाका कलंक भी विद्यमान रहता है। किन्तु आत्मामें मेघ कलंकके समान जो राग-द्वेषादिरूप दोष हैं उन दोषोंको चन्द्रप्रभ भगवान्‌ने नष्ट कर दिया है, इसलिए वे सर्वथा निष्कलंक हैं। चन्द्रमा किरणों की मालासे युक्त होता है। चन्द्रप्रभ भगवान् भी अत्यन्त स्पष्ट वचनोंके प्रणयन रूप (स्याद्वाद न्यायरूप) किरणों की मालासे शोभायमान हैं। उन्होंने तत्त्वोंका जो प्रणयन किया है वह प्रमाण और नयके द्वारा किया है। उनका वाङ्न्याय स्याद्वादन्याय है। चन्द्रमा कलंकित होनेसे अपवित्र है, किन्तु कर्मकलंकसे सर्वथा रहित होनेके कारण श्री चन्द्रप्रभ जिन सर्वथा पवित्र हैं। ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान् मेरे मनको पवित्र करें।

यहाँ स्तुतिकारने चन्द्रप्रभ भगवान्‌से किसी भौतिक वस्तुकी कामना नहीं की है। उन्होंने केवल यही कहा है कि श्री चन्द्रप्रभ जिन मेरे मनको पवित्र करें। अर्थात् उसे रागद्वेषादि विकार भावोंसे मुक्त कर निर्मल करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(९) श्री सुविधि जिन स्तवन

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं
प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना
नैतत् समालीढपदं त्वदन्यैः ।। १ ।।

सामान्यार्थ—हे सुविधि जिन ! आपके द्वारा अपने ज्ञान तेजसे प्रतिपादित जीवादि तत्त्व एकान्तदर्शनका निषेध करनेवाला है, प्रमाण सिद्ध है, और तत्-अतत् (विधि-निषेध) स्वभावसे युक्त है। और आपसे भिन्न सौगत, नैयायिक आदि एकान्तवादियोंके द्वारा ऐसे तत्त्वका स्वरूप अनुभूत नहीं है।

विशेषार्थ—नवम तीर्थंकरका नाम सुविधिनाथ है। यह नाम सार्थक है। सुविधिका अर्थ है—जिनके तपश्चरणादि क्रियाओंका अनुष्ठान उत्तम है। सुविधिनाथका दूसरा नाम पुष्पदन्त भी है। वर्तमानमें यही नाम अधिक प्रचलित है। सुविधिनाथ भगवान्ने केवलज्ञानके द्वारा समस्त तत्त्वोंका साक्षात्कार करके उनके स्वरूपका प्रतिपादन किया था। उन्होंने बतलाया है कि जीवादि तत्त्व एकान्त-दृष्टिका प्रतिषेधक है। प्रत्येक तत्त्व अनेकधर्मात्मक है, एकधर्मात्मक नहीं। जो लोग परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले दो धर्मोंमेंसे एक धर्मको ही स्वीकार करते हैं वे एकान्तवादी हैं और उनका दर्शन एकान्तदर्शन है। सदेकान्त, असदेकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भावैकान्त, अभावैकान्त इत्यादि प्रकारसे एकान्तदर्शन अनेक प्रकारका है। इन एकान्तोंके स्वरूपका जब विचार किया जाता है तब किसी युक्ति अथवा प्रमाणसे उसकी सिद्धि नहीं होती है। श्री सुविधि जिनने जीवादि तत्त्वोंका जो प्रणयन किया है उससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक तत्त्व अनेकान्तरूप है, एकान्तरूप नहीं। उन तत्त्वोंका प्रतिपादन एकान्तदृष्टिका प्रति-षेधक और अनेकान्तदृष्टिका समर्थक है।

प्रत्येक तत्त्व अनेकान्तरूप है, इस बातको सिद्ध करनेके लिए कहा गया है कि जीवादि तत्त्व तत्-अतत् स्वभाववाला है। जिस स्वभावका प्रतिपादन करना है वह तत्-स्वभाव है और उसका विरोधी स्वभाव अतत्-स्वभाव है। जैसे 'जीव सत् है' ऐसा कहते समय जीवका सत्त्व तत्-स्वभाव है। 'और जीव असत् है' ऐसा कहते समय जीवका असत्त्व अतत्-स्वभाव है। इसीको विधि और निषेध कहते हैं। सत् विधि है और असत् निषेध है। इसीको विवक्षित और अविवक्षित भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं। जब सत्त्व धर्मको कहने की विवक्षा होती है तब वह विवक्षित धर्म है और उसका विरोधी असत्त्व अविवक्षित धर्म है। जीव स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे सत् हैं और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे असत् है। जीव कथंचित् सत् है, सर्वथा नहीं। वह कथंचित् सत् है और कथंचित् असत् भी है। अतः वह तत्-अतत् स्वभाववाला है। प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षासे तत्स्वरूप है और पररूपकी अपेक्षासे अतत्स्वरूप है। इसी प्रकार जीवादि तत्त्व द्रव्यकी अपेक्षासे नित्यरूप हैं और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्यरूप हैं। सामान्यकी अपेक्षासे वह एक रूप है और विशेषकी अपेक्षासे अनेक रूप है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्वमें तत्-अतत् स्वभावकी व्यवस्था युक्तिसंगत बन जाती है।

श्री सुविधि जिन द्वारा प्रतिपादित जीवादि तत्त्व प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध होनेके कारण अबाधित हैं। सौगत, नैयायिक आदि एकान्तवादी ऐसे तत्त्वका अनुभव नहीं कर सकते हैं। वे तो कहते हैं कि तत्त्व सर्वथा एकधर्मात्मक है, वह अनेक धर्मात्मक हो ही नहीं सकता। अतः उनका कथन एकान्तदृष्टिको लिए हुए होनेके कारण प्रमाण बाधित है।

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्
तथाप्रतीतेस्तव कथञ्चित्।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च
विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात्॥ २॥

सामान्यार्थ—हे सुविधि जिन! आपके द्वारा अभिमत वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप है और कथंचित् तद्रूप नहीं है। क्योंकि वैसी प्रतीति होती है। विधि और निषेधका पदार्थसे न तो सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है। क्योंकि ऐसा मानने पर शून्यताका दोष आता है।

विशेषार्थ—सुविधिनाथ भगवान्के द्वारा प्रतिपादित जीवादि तत्त्व किसी अपेक्षासे तद्रूप हैं और किसी अपेक्षासे अतद्रूप हैं। किसी अपेक्षासे सद्रूप हैं और किसी अपेक्षासे असद्रूप हैं। किसी अपेक्षासे विधिरूप हैं और किसी अपेक्षासे निषेधरूप हैं। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा वस्तु तत्त्वकी ऐसी ही प्रतीति होती है। यहाँ सत् और असत् धर्मको लेकर जीवादि तत्त्वमें तद्रूपता और अतद्रूपताको समझाया जा रहा है। जीव स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे सत् है। और परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षासे असत् है। स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे जीवका अस्तित्व है और परद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षासे जीवका अस्तित्व नहीं है। जीव न तो सर्वथा सत् है और न सर्वथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असत्। वह तो कथंचित् सत् है और कथंचित् असत् है। इस प्रकार जीवमें सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म पाये जाते हैं। इसी प्रकरणमें आप्तमीमांसामें कहा गया है—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्नो चेन्न व्यपदिष्टते ॥ १५ ॥

अब यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि अस्तित्व (विधि) और नास्तित्व (निषेध) वस्तु तत्त्वसे न तो सर्वथा भिन्न हैं और सर्वथा अभिन्न। अस्तित्वका पदार्थोंसे सर्वथा भेद माननेपर सब पदार्थ असत् हो जावेंगे। जब अस्तित्व पदार्थोंसे सर्वथा पृथक् है तब पदार्थ सत् कैसे होंगे। यदि अस्तित्व पदार्थोंमें नहीं रहता है तो निराश्रय हो जानेके कारण उसका भी अस्तित्व नहीं रहेगा। इस प्रकार शून्यता ही शेष रह जायेगी।

इसी प्रकार नास्तित्वका पदार्थोंसे सर्वथा भेद मानने पर पदार्थोंमें संकर दोषका प्रसंग आता है। नास्तित्वको पदार्थसे सर्वथा भिन्न माननेपर जिस प्रकार घट घटरूपसे सत् है, उसी प्रकार वह पटरूपसे भी सत् हो जायेगा। क्योंकि घटसे नास्तित्वका अत्यन्त भेद होनेके कारण घटमें पटका नास्तित्व नहीं रहेगा। यही संकर दोष है। सबकी एक साथ प्राप्ति होनेको संकर दोष कहते हैं। घटसे नास्तित्वका सर्वथा भेद माननेपर घटमें पटादि सब पदार्थोंके अस्तित्वका एक साथ प्रसंग प्राप्त होनेसे संकर दोष अनिवार्य है। इस प्रकार सब पदार्थ सब रूप हो जावेंगे। घट पटरूप हो जायेगा और जीव अजीवरूप हो जायेगा। ऐसी स्थितिमें पदार्थोंकी कोई सुनिश्चित व्यवस्था न होनेके कारण शून्यताका दोष स्वाभाविक है।

अब यदि माना जाय कि अस्तित्व और नास्तित्व पदार्थसे सर्वथा अभिन्न हैं, तो भी शून्यताका दोष आता है। क्योंकि ऐसा माननेपर सब पदार्थोंका अस्तित्व नास्तित्वरूप हो जायेगा और जब सब पदार्थोंका अस्तित्व ही नहीं रहेगा तब सर्व-शून्यताका प्रसंग प्राप्त होना दुर्निवार है। सर्वथा अभेद पक्ष माननेपर जिस प्रकार अस्तित्वमें नास्तित्वका प्रसंग आता है उसी प्रकार नास्तित्वमें अस्तित्वका भी प्रसंग प्राप्त होता है। और तब सब पदार्थोंका नास्तित्व अस्तित्वरूप हो जायेगा। ऐसी स्थितिमें भी पूर्ववत् संकर दोष उपस्थित होता है। घटमें पटादिके संकर दोषका निराकरण घटमें पटादिके अभावके द्वारा होता है। अर्थात् घटमें पटादिके नास्तित्व के कारण घट पटादिरूप नहीं है। किन्तु जब घटमें पटादिका नास्तित्व नहीं रहेगा तब घट पटादिरूप हो जायेगा। जीवमें अजीवका नास्तित्व न रहनेसे जीव अजीवरूप हो जायेगा। इसी प्रकार सब पदार्थ सब रूप हो जावेंगे। और ऐसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थितिमें पदार्थोंकी व्यवस्थाका कोई व्यवस्थापक न रहनेसे शून्यताका दोष दुर्निवार है।

अतः शून्यता दोषके निराकरणके लिए विधि और निषेधको न तो पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न मानना चाहिए और न सर्वथा अभिन्न मानना चाहिए। किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए। सुविधिनाथ जिनेन्द्रका यही युक्तिसंगत तथा प्रमाणसंगत वचन है।

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-
र्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग-
निमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—'यह वही है' ऐसी प्रतीति होनेसे जीवादि वस्तु नित्य है। और 'यह अन्य है' इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वह नित्य नहीं है। आपके मतमें बहिरंग तथा अन्तरंग कारण और कार्यके सम्बन्धसे वस्तुका नित्य और अनित्य रूप होना विरुद्ध नहीं है।

विशेषार्थ—यहाँ नित्यत्व और अनित्यत्व इन दो धर्मोंके सन्दर्भमें वस्तुका विचार किया गया है। जीवादि वस्तु नित्य है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके द्वारा 'यह वही है' ऐसी प्रतीति होती है। जैसे यह वही देवदत्त है जिसे एक वर्ष पहले देखा था। यह प्रत्यभिज्ञानका उदाहरण है। यहाँ पहले देखे गये देवदत्तमें और आज दिख रहे देवदत्तमें एकत्वकी प्रतीति प्रत्यभिज्ञानसे होती है। जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त देवदत्तकी बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओंमें रहनेवाला देवदत्त एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं। इस बातकी प्रतीति प्रत्यभिज्ञान नामक प्रमाणसे होती है। इसी प्रकार विभिन्न पर्यायोंमें रहनेवाला प्रत्येक जीवादितत्त्व नित्य या एक है। जब हम द्रव्यार्थिक-नयकी दृष्टिसे वस्तुका विचार करते हैं तब वस्तु नित्य सिद्ध होती है। किन्तु पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे वस्तुका विचार करते समय वही वस्तु अनित्य हो जाती है। देवदत्तकी बाल्यावस्थासे युवावस्था भिन्न है और युवावस्थासे वृद्धावस्था भिन्न है। अतः अवस्था भेदसे देवदत्त भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसी प्रकार जीवादि वस्तु पर्याय भेदसे अनित्य सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि जीवादि वस्तु न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य। किन्तु कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य।

अब यहाँ इस बात पर विचार करना है कि एक ही वस्तुमें नित्यत्व और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनित्यत्व ये दो विरोधी धर्म कैसे सम्भव हैं। इस सन्दर्भमें कहा गया है कि हे भगवन्! आपके मतमें एक ही वस्तुमें नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों धर्मोंके रहनेमें कोई विरोध नहीं है। इस बातको इस प्रकार समझाया गया है। ऊपरके श्लोकमें जो निमित्त शब्द है उसका अर्थ है—कारण। कारण दो प्रकारका होता है—बहिरंग (सहकारी) कारण और अन्तरंग (उपादान) कारण। इन दोनों कारणोंसे जो कार्य उत्पन्न होता है वह नैमित्तिक (निमित्त जन्य) कहलाता हैं। घटकी उत्पत्तिमें दण्ड, चक्र, कुलाल आदि सहकारी कारण हैं और मिट्टी उपादान कारण हैं। उपादान कारण स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाता है किन्तु सहकारी कारण स्वयं कार्यरूपमें परिणत नहीं होता है। उक्त दोनों कारणोंका कार्यके साथ जो सम्बन्ध है उससे एक ही वस्तुमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म एक साथ रहते हैं।

उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि द्रव्यरूप उपादान कारणके योग (सम्बन्ध)से वस्तुमें नित्यत्व है और क्षेत्रादिरूप सहकारी कारणोंके योगसे तथा पर्यायरूप कार्यके योगसे वस्तुमें अनित्यत्व है। द्रव्य सदा अपरिवर्तनीय रहता है, किन्तु क्षेत्रादि सहकारी कारण और द्रव्यकी पर्यायें बदलती रहती हैं। इसलिए उपादान कारण द्रव्यके सम्बन्धसे वस्तु नित्य है और सहकारी कारण तथा पर्यायोंके सम्बन्धसे वही वस्तु अनित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तुमें नित्यत्व और अनित्यत्वके रहनेमें कोई विरोध नहीं है।

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं
वृक्षा इति प्रत्ययवत् प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो
गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—पदका वाच्य, वृक्ष इस पद ज्ञानकी तरह, स्वभावसे एक और अनेक दोनों होता है। विरोधी धर्मकी आकांक्षा रखनेवाले वक्ताका 'स्यात्' यह निपात शब्द गौणकी अपेक्षा न रखनेवाले नियम (सर्वथा एकान्त कथन) में निश्चितरूपसे अपवाद (बाधक) होता है।

विशेषार्थ—यहाँ यह बतलाया गया है कि पदका वाच्य एक और अनेक दोनों होता है। व्याकरणकी दृष्टिसे वृक्ष, मनुष्य, घट, पट आदि पद कहलाते हैं। पदको शब्द भी कहते हैं। पद वाचक होता है और पदके द्वारा जिस वस्तुको कहा जाता है उसे वाच्य कहते हैं। घट शब्द वाचक है और घट अर्थ उसका वाच्य है। जिस शब्दका जिस अर्थमें संकेत ग्रहण हो जाता है उस शब्दके द्वारा उस अर्थका बोध होता है। बालकको जब गाय शब्दका गाय अर्थमें संकेत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रहण करा दिया जाता है तब वह गाय शब्दको सुनकर गाय अर्थका ज्ञान कर लेता है।

अर्थ सामान्य और विशेषरूप होता है अथवा द्रव्य और पर्यायरूप होता है। सामान्य एक होता है और विशेष अनेक होते हैं। सब वृक्षोंमें रहनेवाला वृक्षत्व सामान्य एक है और आम, नीम, अनार, शिंशपा आदि वृक्ष विशेष अनेक हैं। जब वृक्षत्व सामान्यकी दृष्टिसे विचार किया जाता है तब वृक्ष पदका वाच्य एक होता है और जब वृक्ष विशेष आम, नीम आदिकी दृष्टिसे विचार किया जाता है तब वृक्ष पदका वाच्य अनेक होता है। जब व्याकरणकी दृष्टि से 'वृक्षः' ऐसा एकवचनान्त वृक्ष शब्दका प्रयोग किया जाता है तब उसका वाच्य एक वृक्ष होता है और जब 'वृक्षाः' ऐसा बहुवचनान्त वृक्ष शब्दका प्रयोग किया जाता है तब वृक्ष शब्दके वाच्य अनेक वृक्ष होते हैं।

इसी प्रकार द्रव्य सामान्यरूप है और पर्याय विशेषरूप है। जब कोई पद किसी द्रव्यका कथन करता है तब उसका वाच्य एक होता है और जब वही पद पर्यायोंका कथन करता है तब उसका वाच्य अनेक होता है। मृद्द्रव्य द्रव्यकी दृष्टिसे एक है और घटादि पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक है। स्वर्णद्रव्य द्रव्यकी दृष्टिसे एक है और हार, कटक, कुण्डल आदि पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक है। इसी प्रकार जीवादि द्रव्योंमें भी एक और अनेक वाच्यकी व्यवस्था समझ लेना चाहिए।

इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि वृक्षादि पदका वाच्य एक और अनेक दोनों होते हैं। एकत्व और अनेकत्व ये दोनों धर्म परस्परमें निरपेक्ष नहीं हैं, किन्तु सापेक्ष हैं। द्रव्यकी दृष्टिसे वस्तु एक है और पर्यायकी दृष्टिसे अनेक है। सामान्य की दृष्टिसे वस्तु एक है और विशेषकी दृष्टिसे अनेक है। अतः दोनों धर्मोंका एक ही वस्तुमें सद्भाव पाया जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। जब कोई वक्ता दोनों धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मका प्रतिपादन करता है उस समय भी वह दूसरे धर्मकी आकांक्षा रखता है। उसकी आकांक्षाका बोध 'स्यात्' शब्दसे होता है। वह कभी कहता है—'स्यादेकम्' और कभी कहता है—'स्यादनेकम्'। वस्तु कथंचित् एक है और कथंचित् अनेक है। एकत्वके कथनके समय अनेकत्वकी अपेक्षा रहती है और अनेकत्वके कथनके समय एकत्वकी अपेक्षा रहती है। यही स्याद्वाद है। स्याद्वादमें जो 'स्यात्' शब्द है वह 'अस्' धातुसे विधिलिंगमें निष्पन्न क्रियापद नहीं है, किन्तु वह तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। 'हिं', 'च', 'एवं', 'स्यात्' इत्यादि शब्द निपात कहलाते हैं। निपात शब्द अव्ययके ही विशेषरूप होते हैं। व्याकरणमें स्यात् शब्दको निपात संज्ञक अव्यय कहा गया है। जो शब्द सदा एकसा रहता है वह अव्यय कहलाता है।

६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्यात् शब्दका प्रयोग कथंचित् अपेक्षाके अर्थमें होता है। आचार्य समन्तभद्रने आत्ममीमांसामें बतलाया है कि स्यात् शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेके कारण 'स्यादस्ति घटः' इत्यादि वाक्योंमें अनेकान्तका द्योतक होता है और गम्य अर्थका विशेषण होता है[1]। अर्थात् स्यात् शब्द अनेकान्तका द्योतन करता हुआ गम्य अर्थका प्रतिपादन करता है। 'स्यादस्ति घटः' इस वाक्यमें घटका अस्तित्व गम्य है। अतः यहाँ स्यात् शब्द घटमें अस्तित्व धर्मका प्रतिपादन करता हुआ उसमें नास्तित्व आदि अन्य अनेक धर्मोंका द्योतन करता है।

यद्यपि परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले एकत्व और अनेकत्व दोनों धर्म एक ही वस्तुमें रहते हैं किन्तु जब वक्ता एकत्व धर्मका कथन करता है तब वह मुख्य हो जाता है और अनेकत्व धर्म गौण हो जाता है। इसी प्रकार अनेकत्व धर्मके कथनके समय वह मुख्य हो जाता है और एकत्व धर्म गौण रहता है। क्योंकि वक्ताका कथन स्याद्वाददृष्टिको लिए हुए होता है। इसके विपरीत जब कोई एकान्तवादी वक्ता गौण धर्मकी अपेक्षा न रखकर मात्र मुख्य धर्मका ही कथन करता है तब आकांक्षी (स्याद्वादी)का स्यात् यह निपात शब्द निश्चयसे एकान्तवादीके कथनका प्रतिरोध करता है। तात्पर्य यह है कि गौण धर्मकी उपेक्षा करके या उसका निराकरण करके किया गया मुख्य धर्मका कथन प्रमाण विरुद्ध है।

संस्कृत टीकाकारने **'आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो'** इत्यादि वाक्य की व्याख्या अस्तित्व और नास्तित्व धर्मको लेकर की है। यद्यपि इस श्लोकमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्मका कोई प्रकरण नहीं है, फिर भी उनकी व्याख्या युक्तिसंगत और स्याद्वादसिद्धान्तको सिद्ध करनेवाली है।

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं
जिनस्य ते त्वद्द्विषतामपथ्यम् ।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां
ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ।। ५ ।।(४५)

सामान्यार्थ—हे सुविधि जिन! गौण और प्रधान अर्थको लिए हुए आपका स्यात् पदसे युक्त यह वाक्य आपसे द्वेष रखनेवाले एकान्तवादियोंके लिए अपथ्य (अनिष्ट) है। इसलिए हे साधो! आपके चरण कमल जगत् के स्वामी इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके द्वारा वन्दनीय हैं और मेरे द्वारा भी वन्दनीय हैं।

---

१. वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ।। १०३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषार्थ--श्री सुविधि जिनने कर्म शत्रुओंको जीत लिया है इसलिए वे जिन कहलाते हैं। ऐसे जिनका **'स्यादेकं पदस्य वाच्यं स्यादनेकम्'** इत्यादि स्यात् शब्दसे युक्त जो यह वाक्य है वह प्रधान और गौणके अभिप्रायको लिए हुए है। पदोंके समूह को वाक्य कहते हैं। जब पद प्रधान और गौण भावको लिए हुए होता है तो पदोंका समूह रूप वाक्य भी गौण और प्रधानके अभिप्रायको लिए हुए ही होता है। जो धर्म विवक्षित होता है वह प्रधान हो जाता है और अविवक्षित धर्म गौण कहलाता है। किन्तु दोनों धर्म वस्तुमें रहते अवश्य हैं। जब एकत्व धर्म विवक्षित होता है तब वह प्रधान होता है और अनेकत्व धर्म गौण हो जाता है। और जब अनेकत्व धर्म विवक्षित होता है तब वह प्रधान होता है और एकत्व धर्म गौण हो जाता है। इस प्रकार धर्मोंमें प्रधानता और गौणता विवक्षा और अविवक्षाके कारण होती है। गौण और प्रधानके अभिप्रायको लिए हुए उक्त प्रकारका वाक्य सौगत, सांख्य आदि एकान्तवादियोंके लिए अनिष्ट है। एकान्तवादी लोग श्री सुविधि जिनसे द्वेष रखते हैं। क्योंकि यदि वे स्यात् शब्दसे युक्त वाक्यको स्वीकार कर लेंगे तो उनके एकान्त मत की हानि हो जायेगी। यही कारण है कि गौण और प्रधानके आशयको लिए हुए स्यात् शब्दसे युक्त वाक्य उनको अनिष्ट है।

हे सुविधि जिन ! आप साधु हैं--समस्त कर्मोंका क्षय करनेके लिए प्रयत्नशील हैं। आपका उपदेश समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाला है। इसके विपरीत एकान्तवादियों का उपदेश जीवोंको कुमार्गपर ले जानेवाला है। आपके उपदेशकी इस विशेषतासे प्रभावित होकर ही जगत्के स्वामी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि आपके चरणकमलों की वन्दना करते हैं और मैं भी श्रद्धापूर्वक आपके चरणकमलोंकी वन्दना कर रहा हूँ।

मुद्रित प्रतियों में इस श्लोकके द्वितीय चरणमें **'तद् द्विषतामपथ्यम्'** ऐसा पाठ है। किन्तु इसके स्थानमें **'त्वद्द्विषतामपथ्यम्'** ऐसा पाठ युक्तिसंगत प्रतीत होता है। श्री अर जिन स्तवनके पन्द्रहवें श्लोकमें **'त्वद्द्विषः'** शब्दका प्रयोग देखिए। उसी प्रकार यहाँ भी **'त्वद्द्विषताम्'** ऐसा पाठ होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१०) श्री शीतल जिन स्तवन

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो
न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः
शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—हे शीतल जिन ! प्रत्यक्षज्ञानी आपकी प्रशम जलसे भरी हुई निर्दोष वचन रूप किरणें विद्वानोंके लिए जिस प्रकार शीतल हैं उस प्रकार न तो चन्दन और चन्द्रमा की किरणें शीतल हैं, न गंगाका जल शीतल है और न मोतियोंकी मालायें शीतल हैं ।

विशेषार्थ—दशम तीर्थंकरका नाम शीतलनाथ है । शीतलनाथ भगवान् संसारके तापसे संतप्त प्राणियोंके लिए शीतलता प्रदान करते हैं । श्री शीतल जिन प्रत्यक्षज्ञानी मुनि और वीतराग हैं । सर्वज्ञ होनेसे उनके वचन जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करते हैं और वीतराग होनेसे उनके वचनोंके द्वारा राग-द्वेषको दूर करनेका ज्ञान प्राप्त होता है । इसीलिए कहा गया है कि श्री शीतल जिनकी वचनरूप किरणें यथार्थ वस्तु स्वरूपको प्रकाशित करनेके कारण निर्दोष हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाधित हैं और निर्मल हैं । वे वचन रूप किरणें प्रशम जलसे परिपूर्ण हैं । राग और द्वेषके अभावको शम या प्रशम कहते हैं । राग और द्वेषके अभावके कारण उनकी वचनरूप किरणोंमें प्रशम रूप जल भरा हुआ है । इसी कारण श्री शीतल जिनकी वचनरूप किरणें हेय और उपादेय तत्त्वोंको जाननेवाले विद्वानोंके लिए शीतल हैं । क्योंकि वे वचन रूप किरणें संसारके संतापको दूर करके उन्हें शीतलता प्रदान करती हैं । तात्पर्य यह है कि श्री शीतल जिनके निर्दोष वचनोंको सुनकर भव्य जीवोंको यह ज्ञान हो जाता है कि इनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर संसारके संतापसे छुटकारा मिल सकता है और चिर शान्ति प्राप्त हो सकती है ।

भगवान् शीतलनाथके वचनोंको सुनकर जैसी शीतलता प्राप्त होती है वैसी शीतलता चन्दनसे, चन्द्रमाकी किरणोंसे, गंगाके जलसे और मोतियोंकी मालाओंसे प्राप्त नहीं हो सकती है । लोकमें चन्दन आदिको शीतलता प्रदायक बतलाया गया है, किन्तु इनके द्वारा जो शीतलता प्राप्त होती है वह शारीरिक है तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षणिक है। इसके विपरीत श्री शीतल जिनके वचनोंसे प्राप्त होनेवाली शीतलता आध्यात्मिक है और स्थायी है।

इस श्लोक के तृतीय चरणमें **'अनघवाक्यरश्मयः'** इस एक पदके स्थानमें 'अनघ' और 'वाक्यरश्मयः' ऐसे दो पद भी किये गये हैं। ऐसा करनेपर अनघ पद श्री शीतल जिनका सम्बोधन हो जाता है। तब इस प्रकार कहेंगे—हे अनघ (निर्दोष) शीतल जिन! किन्तु **'अनघवाक्यरश्मयः'** इस एक पदमें अनघ शब्द 'वाक्यरश्मयः' का विशेषण है। **'अनघवाक्यरश्मयः'** का अर्थ है—निर्दोष वचन-रूप किरणें।

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं
मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं
यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे शीतल जिन! जिस प्रकार वैद्य विषके दाहसे मूर्च्छित अपने शरीरको मन्त्रके गुणोंसे निर्विष एवं मूर्च्छारहित कर लेता है उसी प्रकार आपने सांसारिक सुखोंकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्च्छित अपने मनको ज्ञानमय अमृत जलके द्वारा मूर्च्छारहित (शान्त) किया है।

विशेषार्थ—किसी वैद्यने भूलसे विष पान कर लिया और विषजन्य संतापसे उसका शरीर मूर्च्छित हो गया। तदनन्तर कुछ होश आनेपर वह वैद्य विषापहार-मन्त्रका स्मरण और उच्चारण करते हुए मंत्रके गुणों (अमोघ शक्तियों) के द्वारा अपने शरीरको विष रहित और मूर्च्छारहित कर लेता है। यह तो हुई दृष्टान्त की बात। इस प्रकरणमें अब यहाँ संसारी जीवोंकी स्थिति पर विचार करना है। संसारी प्राणियोंको सदा सुखकी अभिलाषा बनी रहती है। चक्रवर्ती, इन्द्र आदि-का सुख मुझे प्राप्त हो ऐसी तृष्णा सदैव विद्यमान रहती है। सुखाभिलाषा संतापका कारण होनेसे अग्निके समान है। सुखाभिलाषारूप अग्निसे चतुर्गतियोंमें भ्रमण करते हुए इस जीवको दाह (संताप) होता है और उसके द्वारा मन मूर्च्छित (हेयोपादेयके विवेकसे रहित) हो जाता है।

श्री शीतलनाथ जिनका मन (आत्मस्वरूप) भी जिन बननेके पहले इसी प्रकार विषयाभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्च्छित था। ऐसे मूर्च्छित (मोहित) आत्म-स्वरूपको श्री शीतल जिनने ज्ञानमय अमृत जलके सिंचनसे मोहरहित और शान्त कर लिया था। यहाँ उपलक्षणसे ज्ञान शब्दके द्वारा दर्शन और चारित्र शब्दका भी ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारित्र ये तीनों अमृतके समान हैं। और इस अमृतका पान करनेसे श्री शीतल जिनने अपनी आत्माको निर्मोह, निर्मल और शान्त कर लिया था तथा संसारके दुःखोंसे संतप्त प्राणियोंको भी इसी अमृतपानका उपदेश दिया था जिससे वे संसारके दुःखोंसे मुक्त होकर शीतलता प्राप्त कर सकें।

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया
दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवा-
नजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—लौकिक जन अपने जीवनमें तथा काम सुखमें तृष्णाके कारण दिनमें श्रम करनेसे दुःखी रहते हैं और रात्रिमें सो जाते हैं। परन्तु हे आर्य शीतल जिन! आप रात-दिन प्रमादरहित होकर आत्माकी विशुद्धिके मार्गमें जागते ही रहे हैं।

विशेषार्थ—यहाँ संसारी प्राणियोंसे शीतलनाथ भगवान्‌में जो विशेषता है उसको बतलाया गया है। संसारी प्राणियोंकी अभिलाषा सदा यही रहती है कि हमारा जीवन सुरक्षित रहे, हम अधिकसे अधिक जियें और हमारी कभी अकाल मृत्यु न हो। इस प्रकार अपने जीवनके विषयमें तृष्णा बनी रहती है। इसी प्रकार कामसुखमें भी तृष्णाका सद्भाव पाया जाता है। स्त्री आदिकी अभिलाषा-को काम कहते हैं और इससे जो सुख होता है वह कामसुख है। इन्द्रिय विषय-जन्य सुखको भी कामसुख कहते हैं। संसारी प्राणियोंकी तृष्णा कामसुखमें सदा बनी रहती है और यह तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती है, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इस तृष्णाकी पूर्तिके लिए संसारी प्राणी दिनमें सेवा, कृषि आदि कार्योंके करनेमें श्रम करते हैं और उस श्रमसे थककर रात्रिमें सो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उन्हें कभी आत्माके विषयमें चिन्तन करनेका तथा सन्मार्ग पर चलनेका अवसर ही नहीं मिलता है। वे तो सदा तृष्णाकी पूर्तिके चक्करमें ही पड़े रहते हैं।

इसके विपरीत श्री शीतल जिन प्रमाद रहित होकर आत्माकी विशुद्धिके मार्ग में रात-दिन जागते ही रहे हैं। कर्मबन्धके कारणोंमें प्रमाद भी एक कारण है। और श्री शीतल जिनने प्रमादपर विजय प्राप्त कर ली है। प्रमादी जन कभी भी सन्मार्गपर नहीं चल सकता है। जिस मार्गपर चलकर आत्मा सर्व कर्मकलंक रहित हो जाता है वह आत्मविशुद्धिका मार्ग है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्ररूप मोक्षमार्ग ही आत्मविशुद्धिका मार्ग है। अतः श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शीतल जिन अप्रमत्त रहकर आत्मविशुद्धिके मार्गमें निरन्तर जाग्रत् ही रहे हैं।

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्मजराजिहासया
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे शीतल जिन ! कितने ही तपस्वी जन सन्तान, धन तथा परलोककी तृष्णासे अग्निहोत्र आदि कर्म करते हैं। किन्तु समबुद्धि आपने पुनर्जन्म और जराको दूर करनेकी इच्छासे मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति को रोका है।

विशेषार्थ—संसारी जनोंको इस लोकमें पुत्रादि संतानको इच्छा, धन-वैभव की इच्छा और परलोकमें स्वर्गादिकी इच्छा सदा बनी रहती है। यह साधारण जनोंकी बात है। किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि मीमांसक, शैव आदि कितने ही तपस्वी या व्रती भी ऐसे हैं जो तपश्चरण करते हुए भी पुत्रादिकी प्राप्तिके लिए, धनकी प्राप्तिके लिए और स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए अग्निहोत्र यज्ञ आदि कर्म करते हैं। उनके शास्त्रोंमें पुत्रादिकी प्राप्तिके लिए विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान बतलाये गये हैं और वे पुत्रादिकी तृष्णाके वशीभूत होकर अग्निहोत्र आदि यज्ञ कर्मोंके करनेमें संलग्न रहते हैं। और इस प्रकार अपने तपश्चरणको तृष्णाके कारण निष्फल करते रहते हैं। यह है कुछ तपस्वी जनोंकी स्थिति।

हे शीतल जिन ! आपकी बुद्धि (विवेक), मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित होनेके कारण सम है। इसलिए आप सन्तान, धन तथा स्वर्गादि परलोककी तृष्णासे रहित हैं। आपने तो सदा जन्म, जरा और तृष्णाको दूर करनेका प्रयत्न किया है। और इसके लिए मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको रोका है। अर्थात् योग निरोध किया है। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। इस योगसे कर्मोंका आस्रव तथा बन्ध होता है। यह योग ही पुनर्जन्म आदि संसार परिभ्रमणका कारण है। अतः आपने आत्मविकासकी स्थितिमें पहुँचकर योगोंका निरोध करके संसार परिभ्रमणसे मुक्त होनेका मार्ग प्रशस्त किया है। इसके विपरीत दूसरे तपस्वियोंने स्वर्गादि प्राप्तिकी इच्छाके वशीभूत होकर अग्निहोत्र आदि यज्ञ कर्म करते हुए संसार परिभ्रमणके मार्गका ही अनुसरण किया है। इस प्रकार श्री शीतल जिन और अन्य तपस्वियोंकी प्रवृत्तियोंमें बड़ा भारी अन्तर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः
क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरै-
र्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे ॥ ५ ॥ (५०)

सामान्यार्थ--हे शीतल जिन ! कहाँ तो आप केवलज्ञानरूप उत्तम ज्योतिके धारक, पुनर्जन्मसे रहित और परम सुखी तथा कहाँ वे दूसरे देवता अथवा तपस्वी जो लेशमात्र ज्ञानके गर्वसे नाशको प्राप्त हुए हैं। इसीलिए अपने कल्याणकी भावनामें तत्पर गणधरादि श्रेष्ठ ज्ञानियोंके द्वारा आपकी स्तुति की जाती है।

विशेषार्थ—यहाँ संसारके अन्य देवताओंसे शीतलनाथ भगवान्की विशेषता बतलायी गयी है। हे भगवन् ! आपमें और उनमें बड़ा भारी अन्तर है। आप परमातिशयको प्राप्त केवलज्ञानरूप उत्तम ज्योतिके धारक हैं। आपके ज्ञानगुणका इतना अतिशय है कि उसके द्वारा अलोकाकाश सहित त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंका युगपत् साक्षात् ज्ञान होता है। आपसे अन्य जो हरि, हर, हिरण्यगर्भ आदि देवता हैं उनमें पदार्थोंका लेशमात्र ज्ञान पाया जाता है। फिर भी वे उस लेशमात्र ज्ञानसे अपनेको बड़ा ज्ञानी समझते हैं। यही कारण है कि अल्प ज्ञानसे उत्पन्न अहंकार द्वारा वे नष्ट हो रहे हैं और संसारके क्लेशोंका अनुभव कर रहे हैं।

आप अजन्मा हैं। अब आगे आपको जन्म धारण नहीं करना है। आपका यह अन्तिम जन्म है। इसके बाद आपको अनन्तकाल तक सिद्धशिलामें विराजमान रहना है। मुक्त जीव वहाँ से लौटकर फिर कभी संसारमें नहीं आता है। दूसरे देव सजन्मा हैं। उन्हें मोक्षमार्गका ज्ञान न होनेके कारण अभी अनन्त जन्मोंको धारण करना है और संसारके दुःखोंको भोगना है। आप सांसारिक सुखोंकी इच्छासे रहित होनेके कारण परम सुखी हैं, अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं। किन्तु दूसरे देव सांसारिक विषयोंकी तृष्णाके कारण सदा दुःखी रहते हैं। उन्हें अपत्य, धन, स्त्री, स्वर्ग आदिको प्राप्त करनेकी तृष्णा बनी रहती है और इस तृष्णाके कारण उन्हें कभी शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती है।

हे शीतल जिन ! आपमें और अन्य देवोंमें कितना महान् अन्तर है। इसीलिए जो आत्मकल्याणके लिए रत्नत्रयके अभ्यासमें तत्पर हैं ऐसे गणधरादि श्रेष्ठ ज्ञानियोंके द्वारा आपकी स्तुति की जाती है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(११) श्री श्रेयांस जिन स्तवन

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः
श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मि-
न्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—हे श्रेयांसनाथ भगवन् ! कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले और अबाधित वचनोंसे युक्त आप इन प्रजाजनोंको मोक्षमार्गमें हितका उपदेश देते हुए इन तीनों लोकोंमें अकेले ही मेघोंके आवरणसे रहित सूर्यके समान प्रकाशमान हुए हैं ।

विशेषार्थ—ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ भगवान् कर्मशत्रुओंको जीतनेके कारण अथवा कषायों और इन्द्रियोंको जीतनेके कारण जिन हैं तथा उनके वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अबाधित हैं । कोई भी एकान्तवादी उनके वचनोंमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं कर सकता है । श्री श्रेयांस जिनने संसारमें परि-भ्रमण करनेवाले इन प्रजाजनोंको हितका उपदेश देकर मोक्षमार्गमें लगाया है । ऐसा करते हुए श्री श्रेयांस जिन अकेले ही तीनों लोकोंमें उसी प्रकार शोभायमान हुए हैं जिस प्रकार सूर्य मेघोंके आवरणसे रहित होकर अकेला ही आकाशमें सुशोभित होता है ।

यदि सूर्यके ऊपर मेघोंका आवरण आ जाये तो वह मेघोंके आवरणसे आच्छा-दित होकर प्रकाशित नहीं होता है । किन्तु मेघ पटलोंके नष्ट हो जानेपर वही सूर्य अपनी अप्रतिहत किरणोंके द्वारा अन्धकारका विनाश करता हुआ दृष्टिशक्ति-से सम्पन्न लोगोंको इष्ट स्थानकी प्राप्ति करा देता है । इसीमें सूर्यकी शोभा है । सूर्य बाह्य अन्धकारको नष्ट करता है । किन्तु श्री श्रेयांस जिन भव्य जीवोंके अन्तरंगमें विद्यमान अज्ञानान्धकारको नष्ट करते हैं । उन्होंने आत्माके ऊपर पड़े हुए घातिया कर्मोंके आवरणको नष्ट कर दिया है । इसी कारण उनके वचन अजेय और अबाधित हैं । उन्होंने अपने कल्याणकारक वचनोंके द्वारा भव्य जीवोंके अज्ञानान्धकारको नष्ट करते हुए उन्हें मोक्षमार्गमें लगाया है । यही कारण है कि वे अकेले ही त्रिभुवनमें सुशोभित हुए हैं ।

संस्कृत टीकाकारने इस श्लोककी व्याख्यामें श्रेयः शब्दको दो प्रकारसे निरू-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पित किया है—(१) 'श्रेयःप्रजाः शासत्', यहाँ श्रेयः शब्द प्रजा शब्दके साथ मिलकर एक पद बनाता है। अतः श्रेयःप्रजाः का अर्थ है – भव्य जीव। (२) 'प्रजाः श्रेयः शासत्', यहाँ श्रेयः शब्द प्रजा शब्दसे पृथक् है। श्रेयः का अर्थ है— हित अथवा कल्याण। श्रेयः शब्दको प्रजाः शब्दसे पृथक् रखना ही ठीक है। 'प्रजाः श्रेयः शासत्' का अर्थ होता है—श्री श्रेयांस जिनने प्रजाजनोंको हितका उपदेश दिया।

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः
प्रमाणमत्रान्यतरत् प्रधानम्।
गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतु-
र्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे श्रेयांस जिन ! आपके मतमें कथंचित् प्रतिषेधरूप विधि प्रमाणका विषय है। विधि और प्रतिषेध दोनोंमेंसे कोई एक प्रधान और दूसरा गौण होता है। और मुख्यका जो नियामक होता है वह नय है। वह नय दृष्टांतसे समर्थित होता है अथवा दृष्टान्तका समर्थक होता है।

विशेषार्थ—जैनदर्शनमें प्रमाण और नयके द्वारा वस्तुतत्त्वका अधिगम होता है। यहाँ विधि और निषेधका प्रकरण है। अतः जो पदार्थके विधि और निषेध दोनों रूपोंको ग्रहण करता है वह प्रमाण है और उक्त दोनों रूपोंमेंसे एक रूपको ग्रहण करनेवाला नय कहलाता है। पदार्थके विधि और निषेध ये दो प्रमुख धर्म हैं। स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे अस्तित्वका नाम विधि है और पररूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तित्वका नाम निषेध है। विधि और निषेधका पदार्थके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है तथा इन दोनों धर्मोंका परस्परमें भी तादात्म्य सम्बन्ध है। जो विधि तादात्म्य सम्बन्धसे प्रतिषेधके साथ सम्बद्ध है वह प्रमाण है। अथवा जो प्रतिषेध तादात्म्य सम्बन्धसे विधिके साथ सम्बद्ध है वह प्रमाण है। अर्थात् विधि और प्रतिषेध दोनों मिलकर प्रमाण हैं। यहाँ प्रमाणका विषय होनेके कारण विधि और निषेधको उपचारसे प्रमाण कहा गया है।

विधि और निषेध इन दोनों धर्मोंमेंसे वक्ताकी विवक्षाके अनुसार कोई एक धर्म प्रधान होता है और दूसरा धर्म गौण हो जाता है। जब अस्तित्व प्रधान होता है तब नास्तित्व गौण हो जाता है और जब नास्तित्व प्रधान होता है तब अस्तित्व गौण हो जाता है। दो धर्मोंमें जो मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है वह वक्ता-के अभिप्रायके अनुसार होती है। वस्तुके स्वरूपके अनुसार मुख्य और गौणकी व्यवस्था नहीं होती है। वस्तुके स्वरूपके अनुसार किसी धर्मको प्रधान अथवा गौण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माननेपर उसे सर्वदा वैसा ही मानना पड़ेगा। प्रधानरूप विधि अथवा निषेधका जो नियामक होता है वह नय कहलाता है। स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे ही विधि होती है और पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे ही निषेध होता है। इस प्रकारके नियमकी व्यवस्था नय करता है। नय कभी विधिको मुख्य बनाता है और कभी निषेधको मुख्य बनाता है। विधि और निषेध ये दोनों भिन्न-भिन्न समयोंमें नयके विषय होते हैं, एक साथ नहीं। इस प्रकारके नयके विषयका समर्थन दृष्टान्तसे करना चाहिए।

इस श्लोकमें जो 'दृष्टान्तसमर्थनः' शब्द है उसका संस्कृत टीकाकारने दो प्रकारसे अर्थ किया है—(१) दृष्टान्ते समर्थनं यस्य सः दृष्टान्तसमर्थनः। इसका अर्थ है—घटादि दृष्टान्तमें दूसरोंको समझानेके लिए अस्तित्व या नास्तित्वके स्वरूपका निरूपण करना। (२) दृष्टान्तस्य समर्थनं येनासौ दृष्टान्तसमर्थनः। इसका अर्थ है—नयके द्वारा घटादि दृष्टान्तके असाधारण स्वरूपका निरूपण करना। इस दृष्टिसे नय दृष्टान्तका समर्थक होता है। श्री श्रेयांस जिनके मतमें प्रमाण और नयकी उक्त प्रकारसे व्यवस्था होती है।

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो
गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।
तथारिमित्रानुभयादिशक्ति
द्वयावधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे श्रेयांस जिन! आपके मतमें विवक्षित धर्म मुख्य होता है और दूसरा अविवक्षित धर्म गौण कहलाता है। जो अविवक्षित है वह निःस्वभाव नहीं होता है। इस प्रकार मुख्य और गौणकी व्यवस्थासे अरि, मित्र, अनुभय आदि शक्तियोंको धारण करनेवाली वस्तु दो अवधियों (मर्यादाओं) से ही कार्य (अर्थक्रिया) करनेमें प्रवृत्त होती है।

विशेषार्थ—वक्ताकी इच्छाको विवक्षा कहते हैं। वक्ता जिस धर्मका प्रतिपादन करता है वह विवक्षित होनेसे मुख्य हो जाता है और उसका प्रतिपक्षी दूसरा धर्म अविवक्षित होनेसे गौण हो जाता है। अस्तित्व धर्मकी विवक्षाके समय अस्तित्व मुख्य धर्म है और नास्तित्व गौण धर्म है। इसी प्रकार नास्तित्व धर्मकी विवक्षाके समय नास्तित्व मुख्य धर्म है और अस्तित्व गौण धर्म है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि दो धर्मोंमें मुख्य और गौणकी व्यवस्था वक्ताके अभिप्रायके अनुसार होती है, वस्तुके स्वरूपके अनुसार नहीं। वस्तुमें तो दोनों धर्म समान हैं। वक्ता जब दो धर्मोंका प्रतिपादन करना चाहता है उस समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों धर्मोंका प्रतिपादन एक साथ नहीं हो सकता है, किन्तु उनका प्रतिपादन क्रमशः ही होता है। ऐसी स्थितिमें विवक्षित धर्मको मुख्य और अविवक्षित धर्मको गौण मानना आवश्यक है। जो अविवक्षित धर्म है वह अभावरूप नहीं है। जब वस्तुमें अस्तित्व धर्म विवक्षित होता है तब नास्तित्व धर्म भी वहाँ विद्यमान रहता है, किन्तु उस समय वह वक्ता की दृष्टिसे ओझल रहता है।

इस मुख्य और गौणकी व्यवस्थाके कारण एक ही पदार्थ अरि, मित्र, उभय, अनुभय आदि शक्तियोंसे युक्त देखा जाता है। एक ही देवदत्त उपकार करनेके कारण किसीका मित्र है और अपकार करनेके कारण किसीका शत्रु है। क्रमशः उपकार और अपकार करनेके कारण वह किसीका मित्र और शत्रु दोनों है। और किसीके प्रति उदासीन रहनेसे वह अनुभय है, वह उसका न मित्र है और न शत्रु है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु कथंचित् अस्तिरूप है, कथंचित् नास्तिरूप है, कथंचित् उभयरूप है और कथंचित् अनुभय रूप है। यह सब व्यवस्था स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार होती है।

प्रत्येक वस्तुमें विधि और निषेध, सामान्य और विशेष, द्रव्य और पर्याय इत्यादि प्रकारसे दो मर्यादायें पायी जाती हैं। इन्हीं दो अवधियों (मर्यादाओं) के कारण ही घटादि वस्तु अर्थक्रियाकारी होती हैं। यदि कोई वस्तु सर्वथा अस्तिरूप हो अथवा सर्वथा नास्तिरूप हो, सर्वथा सामान्यरूप हो अथवा सर्वथा विशेष रूप हो, सर्वथा द्रव्यरूप हो अथवा सर्वथा पर्यायरूप हो तो वह वस्तु कुछ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकती है। किन्तु दो अवधियोंसे सम्पन्न वस्तु ही अर्थक्रियाकारी होती है। प्रत्येक वस्तु कुछ न कुछ अर्थक्रिया अवश्य करती है। जैसे जलधारण, आहरण आदि घट की अर्थक्रिया है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुकी अर्थक्रिया (कार्य) अवश्य होती। श्री श्रेयांस जिनके मतमें उक्त प्रकारकी व्यवस्था प्रमाणसंगत होनेसे निर्विरोध है। किन्तु एकान्तवादियोंके मतमें ऐसी व्यवस्था संभव नहीं है।

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे
साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामि दृष्टं
त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—वादी और प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्तकी सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होता है। परन्तु वैसी दृष्टान्तभूत कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, जो सर्वथा एकान्तकी नियामक हो सके। क्योंकि अनेकान्तदृष्टि सबमें अपना प्रभाव डाले हुए है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषार्थ—जब किसी वस्तुके विषयमें कोई विवाद होता है उस समय दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष वादी कहलाता है और दूसरा पक्ष प्रतिवादी होता है। पर्वतमें अग्नि है या नहीं, यह विवादका विषय है। वादी कहता है कि वहाँ अग्नि है, क्योंकि वहाँ धूम है। प्रतिवादी पर्वत में अग्निका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता है। वह वहाँ धूमका अस्तित्व अवश्य मानता है। यहाँ अग्नि साध्य है और धूम हेतु है। यहाँ प्रतिवादीको समझानेके लिए वादी भोजनशालाका दृष्टान्त देता है। वह कहता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है। जैसे भोजनशालामें जब धूम रहता है तब अग्नि भी अवश्य रहती है। इस दृष्टांत द्वारा प्रतिवादीको पर्वतमें अग्निके होनेकी बात समझमें आजाती है। इस प्रकार दृष्टान्तके माध्यमसे पर्वतमें अग्निरूप साध्यकी सिद्धि भलीभाँति हो जाती है।

सर्वथैकान्तका अस्तित्व है या नहीं, यह विवाद का विषय है। यहाँ सांख्य, नैयायिक आदि एकान्तवादी कहते हैं कि सर्वथैकान्तका अस्तित्व है। इसके विपरीत जैनदार्शनिक कहते हैं कि सर्वथैकान्तका अस्तित्त्व नहीं है। इस विवाद-में यदि कोई ऐसी वस्तु मिल जाय जो दृष्टान्त बनकर सर्वथैकान्तके अस्तित्वको सिद्ध कर दे तो सर्वथैकान्तरूप साध्यकी सिद्धि हो सकती है। किन्तु ऐसी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं है जो सर्वथैकान्तकी नियामक हो। अर्थात् जो दृष्टान्त बनकर सर्वथैकान्तकी सिद्धि कर सके। तात्पर्य यह है कि सर्वथैकान्तकी सिद्धिके लिए कोई दृष्टान्त ही नहीं मिल रहा है और दृष्टान्तके बिना साध्यकी सिद्धि सम्भव नहीं है।

हे श्रेयांस जिन ! आपकी अनेकान्तदृष्टि साध्य, साधन और दृष्टान्त सबमें अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। आपके मतमें वस्तुमात्र अनेकान्तात्मकत्वसे व्याप्त है। जहाँ वस्तुत्व है वहाँ अनेकान्तात्मकत्व भी अवश्य है। अतः साध्य, साधन और दृष्टान्त इन सबमें भी अनेकान्तात्मकत्व विद्यमान है। कोई भी वस्तु अनेकान्तात्मकत्वसे शून्य नहीं है। इसलिए अनेकान्तदर्शन ही श्रेयस्कर है।

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि-
न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट्
ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥ ५ ॥ (५५)

सामान्यार्थ—हे अर्हन् ! एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि न्यायरूप बाणोंसे होती है। तथा आप मोहरूप (अज्ञान रूप) शत्रुका नाश करके केवलज्ञानरूप विभूतिके सम्राट् हुए हैं। इसलिए आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषार्थ—सब पदार्थ सत्‌रूप ही हैं, असत्‌रूप ही हैं, नित्यरूप ही हैं, अनित्यरूप ही हैं, सामान्यरूप ही हैं, विशेषरूप ही हैं, द्रव्यरूप ही हैं, पर्याय रूप ही हैं, इत्यादि प्रकारका मिथ्या अभिनिवेश एकान्तदृष्टि कहलाती है। इस एकान्तदृष्टिका प्रतिषेध (निराकरण) न्यायरूप बाणोंके द्वारा ही होता है। न्याय प्रमाण और नयरूप होता है। श्री श्रेयांस जिनने प्रमाण और नयरूप बाणोंके द्वारा सर्वथा एकान्तवादियोंका निराकरण करके उनपर विजय प्राप्त की है। यह श्री श्रेयांस जिनकी परार्थसम्पत्ति है।

श्री श्रेयांस जिनने न्यायरूप बाणोंसे केवल एकान्तदृष्टियोंका निराकरण ही नहीं किया है किन्तु शुक्लध्यानके द्वारा मोहरूप शत्रुका नाश करके वे केवलज्ञान रूप विभूति (सम्पत्ति) के सम्राट् भी हुए हैं। यहाँ मोहरिपुका अर्थ अज्ञानरूप शत्रु करना चाहिए। अथवा मोहका अर्थ मोहनीय कर्म और रिपुका अर्थ ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण और अन्तराय ये तीन कर्म करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि श्री श्रेयांस जिनने चार घातिया कर्मोंका नाश करके केवलज्ञानको अथवा अनन्तचतुष्टयको प्राप्त किया है। कैवल्यविभूतिका अर्थ है केवलज्ञानरूप सम्पत्ति अथवा केवलज्ञानके होने पर समवसरणादिरूप सम्पत्ति।

हे भगवन्! आप अज्ञानरूप शत्रुका नाश करके अथवा चार घातिया कर्मोंका नाश करके केवलज्ञानरूप सम्पत्तिके साथ ही समवसरणादिरूप सम्पत्तिके भी सम्राट् (चक्रवर्ती राजा) हुए हैं। यह श्री श्रेयांस जिनकी स्वार्थसम्पत्ति है। यतः आप एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधक और अनेकान्तदृष्टिके प्रतिपादक हैं, साथ ही स्वार्थसम्पत्ति और परार्थसम्पत्तिके धारक हैं इसलिए मैं आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने अपने सम्पादन में 'एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः' और 'न्यायेषुभिः' इन दो पदोंके स्थानमें 'एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिन्यायेषुभिः' ऐसा एक ही पद रक्खा है। उनका मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि इस एक पदका सीधा सम्बन्ध 'मोहरिपुं निरस' इस पदके साथ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि मोहशत्रुके विनाशके लिए कोई शस्त्र चाहिए और वह शस्त्र है न्यायरूप बाण। अतः आप (श्रेयांस जिन) एकान्तदृष्टि के प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्याय-बाणोंसे मोह शत्रुका नाश करके कैवल्यविभूतिके सम्राट् हुए, ऐसा अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है। किन्तु जब हम ऐसा कहते हैं कि एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि न्यायरूप बाणोंसे होती है, तब 'मोहरिपुं निरस्य' यह पद अलग पड़ जाता है। और यहाँ मोहशत्रुके नाशके हेतुको अलगसे बतलाना पड़ता है। अर्थात् श्रेयांस जिन शुक्लध्यानके द्वारा मोह शत्रुका नाश करके कैवल्यविभूतिके सम्राट् हुए, ऐसा कहना पड़ता है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१२) श्री वासुपूज्य जिन स्तवन

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु
त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ।। १ ।।

सामान्यार्थ—हे मुनीन्द्र ! वासुपूज्य नामको धारण करनेवाले आप कल्याणकारिणो स्वर्गावतरण आदि कल्याणक क्रियाओंमें पूज्य हैं तथा देवेन्द्रके द्वारा भी पूज्य हैं। इसलिए अल्पबुद्धि मेरे द्वारा भी पूज्य हैं। क्या सूर्य दीपशिखाके द्वारा पूज्य नहीं होता है ? अर्थात् अवश्य पूज्य होता है।

विशेषार्थ—बारहवें तीर्थंकरका नाम वासुपूज्य है। राजा वसुपूज्यके पुत्र होनेके कारण इनका नाम वासुपूज्य है। गणधरादि मुनियोंके स्वामी होनेके कारण वे मुनीन्द्र हैं। गर्भादि कल्याणकोंकी प्रशस्त क्रियाओंके अवसर पर अवधिज्ञानी इन्द्र तथा विशिष्टज्ञानी चक्रवर्ती आदिके द्वारा पूज्य हैं। यहाँ स्तुतिकार कहते हैं कि हे भगवन् ! आप बड़े-बड़े ज्ञानियोंके द्वारा पूज्य हैं और मैं अल्पबुद्धिका धारक हूँ। मुझमें इतनी शक्ति कहाँ है जो मैं आपकी पूजा (स्तुति) कर सकूँ। फिर भी भक्तिवश मन्दबुद्धि मैं आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ। इस विषयमें मुझे दीपशिखाके द्वारा सूर्यकी पूजासे प्रेरणा मिली है। सूर्य प्रचण्ड तेजका धारक है, प्रकाश पुंज है। फिर भी भक्तजन दीपशिखाके द्वारा सूर्यकी पूजा करते हैं। कहाँ तेजका भण्डार सूर्य और कहाँ टिमटिमाती दीपशिखा। दोनोंमें कितना अन्तर है। फिर भी भक्तिवश दीपशिखाके द्वारा सूर्यकी पूजा की जाती है।

हे वासुपूज्य जिन ! आप केवलज्ञानी हैं और मैं अल्पबुद्धि हूँ। मुझमें और आपमें महान् अन्तर है। मैं अपनी अल्पबुद्धिके द्वारा आपकी क्या स्तुति कर सकता हूँ। फिर भी आपकी तीव्र भक्तिवश मैं आपकी स्तुति कर रहा हूँ।

यहाँ दीपके द्वारा सूर्यकी पूजाका जो दृष्टान्त दिया गया है उसे हिन्दूधर्मकी अपेक्षासे ही समझना चाहिए। क्योंकि हिन्दू लोग दीपक जलाकर सूर्यकी आरती उतारते हैं तथा पूजा करते हैं। किन्तु जैनधर्ममें ऐसी कोई मान्यता नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे नाथ ! रागसे रहित आपमें पूजाके द्वारा कोई प्रयोजन नहीं है और वैरसे रहित आपमें निन्दाके द्वारा भी कोई प्रयोजन नहीं है । तो भी आपके पुण्य गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापरूप अंजन (मल) से पवित्र करता है । अर्थात् पाप मलको दूर कर देता है ।

विशेषार्थ—रागी मनुष्य अपनी स्तुतिसे प्रसन्न होता है और द्वेषी मनुष्य अपनी निन्दासे अप्रसन्न होता है । किन्तु श्री वासुपूज्य जिन वीतराग और वीतद्वेष हैं । वीतराग होनेके कारण पूजासे उनका कोई प्रयोजन नहीं है । कोई भक्त भगवान्‌की कितनी हो पूजा करे, स्तुति करे और प्रशंसा करे तो ऐसा करनेसे भगवान् उस भक्तपर प्रसन्न नहीं होते हैं और न पूजकको पूजा करनेका कोई इष्ट फल देते हैं । इसी प्रकार वीतद्वेष होनेके कारण श्री वासुपूज्य जिनका निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं है । कोई भगवान्‌की कितनी ही निन्दा करे, बुराई करे और अपशब्द कहे तो ऐसा करनेसे भगवान् उसपर अप्रसन्न नहीं होते हैं और न निन्दकको निन्दा करनेका कोई अनिष्ट फल देते हैं । वीतराग और वीत-द्वेष होनेके कारण वासुपूज्य भगवान् पूजा और निन्दा इन दोनों स्थितियोंमें समान रहते हैं । पूजा करनेवाले का न इष्ट करते हैं और न निन्दा करनेवालेका अनिष्ट करते हैं ।

यहाँ कोई कह सकता है कि जब भगवान् पूजाका कोई फल नहीं देते हैं तब उनकी पूजा करना व्यर्थ है । यह कथन ठीक नहीं है । हम भगवान्‌की पूजा इसलिए नहीं करते हैं कि पूजासे प्रसन्न होकर भगवान् हमको कुछ फल दें । यथार्थ बात यह है कि भगवान्‌की पूजा या स्तुति करते समय हम भगवान्‌के अनन्तज्ञानादि पवित्र गुणोंका स्मरण करते हैं और यह गुणस्मरण हमारे चित्त (आत्मस्वरूप) को पापमलोंसे पवित्र करता है । तात्पर्य यह है कि हम भगवान्‌की पूजा अपने ही हितके लिए करते हैं । भगवान् पूजाका फल नहीं देते हैं किन्तु हमें पूजाका फल स्वतः मिल जाता है । इसी बातको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि भगवान्‌की पूजा करनेसे पुण्यबन्ध होता है और उस पुण्यबन्धके द्वारा हमें सुखादि रूप इष्ट फलकी प्राप्ति होती है । इसप्रकार पूजा करनेसे हमें दो प्रकार का लाभ होता है । पहला लाभ तो यह है कि पूजा करनेसे चित्तका पाप कर्मरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मल दूर हो जाता है और चित्त पवित्र हो जाता है। दूसरा लाभ यह है कि पूजा करते ममय शुभ परिणामों द्वारा पुण्यबन्ध होता है और पुण्यबन्ध द्वारा सुखादि इष्ट फलकी प्राप्ति होनी है। अतः भगवान्‌की पूजा करना व्यर्थ नहीं है।

उपलब्ध प्रतियोंमें इस श्लोकके चतुर्थ चरणमें 'पुनातु' ऐसा पाठ है। किन्तु यहाँ जो प्रकरण है उसके अनुसार 'पुनाति' शब्दका प्रयोग उपयुक्त प्रतीत होता है। श्री अर जिन स्तवनके द्वितीय श्लोकमें भी इसी प्रकरणमें पुनाति शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रकरण यह है कि जब भगवान् पूजा करनेसे प्रसन्न नहीं होते हैं तो हम उनकी पूजा क्यों करते हैं? इसका सीधा उत्तर यह है कि उनकी पूजा करनेसे हमारा चित्त पवित्र होता है, इसलिए हम उनकी पूजा करते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के पुण्य गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है। पुनातिका अर्थ है—पवित्र करता है और पुनातु का अर्थ है—पवित्र करे। श्री मुख्तार सा०ने पुनाति शब्दका ही प्रयोग किया है।

पूज्य जिनं त्वार्चयतो जनस्य
सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य
न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥ २॥

सामान्यार्थ—हे जिन! इन्द्र आदिके द्वारा पूज्य और कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले आपकी पूजा करनेवालेको जो लेशमात्र पाप होता है वह बहुत भारी पुण्यराशिमें दोषके लिए समर्थ नहीं है। जैसे कि विषकी एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको दूषित नहीं कर सकती है।

विशेषार्थ—पूजा दो प्रकारकी होती है—द्रव्य पूजा और भाव पूजा। जल, चन्दन आदि अष्ट द्रव्योंसे जो पूजा की जाती है वह द्रव्य पूजा है तथा पवित्र भावोंसे भगवान्‌के पुण्य गुणोंका स्मरण करना, स्तुति करना, वन्दना करना इत्यादि भाव पूजा है। गृहस्थ मुख्य रूपसे द्रव्य पूजा करते हैं। वे भाव पूजा भी कर सकते हैं। द्रव्य पूजा करनेका एक लाभ यह है कि अष्ट द्रव्योंके अवलम्बनसे पूजकका मन पूजामें लगा रहता है। मुनि या साधु परिग्रह रहित होनेके कारण भाव पूजा ही करते हैं। द्रव्य पूजाके लिए जलादि सामग्री एकत्रित करते समय पूजकके द्वारा थोड़ी द्रव्यहिंसा होना संभव है। यही सावद्यलेश (लेशमात्र पाप) है। भावपूजा करते समय मुनिके भी सरागपरिणतिरूप सावद्यलेश होता है। मुनि अवस्थामें सराग परिणाम होना भी अल्प पाप या हिंसा है। किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजा करनेसे विशाल पुण्य उत्पन्न होता है। उस पुण्यराशिके समक्ष अल्पतम पाप या हिंसा किसी दोषको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है।

तात्पर्य यह है कि वह सावद्यलेश प्रचुर पुण्यको दूषित करनेमें अथवा उसे पापरूप परिणत करनेमें समर्थ नहीं होता है। जैसे कि विषका एक कण समुद्रकी विशाल जलराशिको दूषित नहीं कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति समुद्रके अथाह जलमें विषका एक कण डाल दे तो उस विष कणसे समुद्रका विशाल जल विषैला (प्राणघातक) नहीं हो जाता है। इसी प्रकार भगवान्‌की पूजा करनेसे उत्पन्न विशाल पुण्यराशिमें सावद्यलेश कुछ भी दोष या पाप उत्पन्न नहीं करता है।

यद् वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते-
र्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूत-
मभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—जो बाह्य वस्तु गुण और दोषकी उत्पत्तिका कारण होती है वह आत्मामें होनेवाले उपादानरूप मूल हेतुका अंगभूत (सहकारी कारण) है। हे भगवन्! आपके मतमें केवल अभ्यन्तर कारण (उपादान करण) भी गुण और दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ है।

विशेषार्थ—यहाँ इस बातपर विचार किया गया है कि गुण और दोषकी उत्पत्ति कैसे होती है। सर्वप्रथम यह देखना है कि गुण और दोषका अर्थ क्या है। संस्कृत टीकाकारने गुण का अर्थ पुण्य किया है और दोषका अर्थ पाप किया है, जो प्रकरणके अनुसार ठीक प्रतीत होता है। तृतीय श्लोकमें पुण्य और दोष शब्द आये हैं। यहाँ पुण्यके स्थानमें गुण शब्दका प्रयोग किया गया है। गुण शब्दसे आत्माका सम्यग्दर्शनादिरूप स्वभावपरिणमन और दोष शब्दसे आत्माका मिथ्यादर्शनादिरूप विभावपरिणमन भी लिया जा सकता है।

सामान्यरूपसे कारणके दो भेद होते हैं—उपादानकारण और निमित्त-कारण। निमित्त कारणको सहकारी कारण भी कहते हैं। अध्यात्मके प्रकरणमें उपादान कारणको अन्तरंग कारण और निमित्त कारणको बहिरंग कारण भी कहा जाता है। उपादान कारण मूलहेतु (प्रधान कारण) कहलाता है और निमित्त कारण उसका अंगभूत (गौण कारण) होता है। अतः किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मूल कारण होता है और निमित्त कारण उसका अंग-भूत (सहकारी कारण) होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब इस बातपर विचार करना है कि पुण्य और पापकी उत्पत्ति कैसे होती है। इसे समझनेके लिए अध्यात्मवृत्त शब्दका अर्थ समझना आवश्यक है। इस श्लोकमें 'अध्यात्मवृत्तस्य' शब्द आया है। कुछ लोग अध्यात्मवृत्त शब्दका अर्थ आत्मलीन पुरुष करते हैं, जो ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ आत्मलीन पुरुषकी कोई बात नहीं है। यहाँ तो सामान्य पुरुषकी बात है। यह बात पशु-पक्षियोंपर भी लागू हो सकती है। क्योंकि वे भी पुण्य और पापका बन्ध करते हैं। यहाँ पुण्य और पापकी उत्पत्तिका प्रकरण है। अध्यात्मवृत्त पुरुष पापकी उत्पत्ति क्यों करेगा। अतः 'अध्यात्मवृत्तस्य' शब्द 'अभ्यन्तरमूलहेतोः' का विशेषण है। संस्कृत-टीकाकारने अध्यात्मवृत्तका अर्थ किया है—आत्मामें होनेवाले शुभ और अशुभ परिणाम। शुभ और अशुभ परिणाम क्रमशः पुण्य और पापकी उत्पत्तिमें अन्तरंग मूलहेतु अर्थात् उपादान कारण होते हैं। शुभ परिणामोंसे पुण्यकी उत्पत्ति होती है और अशुभ परिणामोंसे पापकी उत्पत्ति होती है। तत्त्वार्थसूत्रमें बतलाया गया है कि शुभ योगसे पुण्य कर्मोंका आस्रव होता है और अशुभ योगसे पाप कर्मोंका आस्रव होता है[1]।

अब प्रश्न यह है कि पुण्य और पापकी उत्पत्तिमें बाह्य वस्तु भी कारण होती है या नहीं। इसका उत्तर यह है कि पुण्य और पापकी उत्पत्तिमें बाह्य वस्तु भी कारण होती है, किन्तु वह मूल कारणका अंगभूत (सहकारी कारण) होती है। आत्मामें होनेवाले शुभ परिणाम पुण्यके उपादान कारण तथा अशुभ परिणाम पापके उपादान कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि पुण्य और पापकी उत्पत्तिमें जो बाह्य वस्तु कारण होती है वह अन्तरंग शुभाशुभ परिणामरूप उपादान कारणकी सहकारी कारण होती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों कारणों (उपादान और निमित्त) का होना आवश्यक है। केवल एक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। फिर प्रश्न हो सकता है कि जब ऐसी बात है तब **'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते'** ऐसा क्यों कहा है। क्या ऐसा कहनेमें कोई विरोध नहीं है? इसका समाधान इस प्रकार है—

हे भगवन्! आपके मतमें केवल अभ्यन्तर (उपादान) कारण भी कार्य करनेमें समर्थ है। आचार्य समन्तभद्रने ऐसा जो कहा है वह सामान्य कथन न होकर विशेष कथन है। इसे समझनेके लिए आगमके आलोकमें नयोंकी दृष्टिसे विचार करना आवश्यक है। जैनागमके अनुसार विशिष्ट पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति अर्थात् उपादान कारण ही कार्यका उत्पादक या कर्ता होता है। उपादान कारण द्वारा उत्पन्न होनेवाले कार्यके समय निमित्त कारण भी उपस्थित

---

१. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।—तत्त्वार्थसूत्र ६/३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहता है, किन्तु उसमें उपादानकी क्रिया करनेकी शक्ति नहीं होती है। जब-जब उपादानके द्वारा कार्य होता है तब-तब तदनुकूल निमित्त भी स्वयं मिल जाते हैं, ऐसा दोनोंमें सहज सम्बन्ध है। यथार्थमें निमित्तोंके अनुसार कार्य नहीं होता है, वह तो उपादानकी योग्यताके अनुसार ही होता है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है, तो यहाँ उनका कथन पारमार्थिक न होकर असद्‌भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे समझना चाहिए। निमित्तके बिना कार्य नहीं होता है, ऐसा कहना तो ठीक है, किन्तु इतने मात्रसे निमित्तमें कर्तृत्व नहीं आ जाता है। अतः परमार्थसे निमित्त कार्यका कर्ता नहीं है।

इस प्रकरणमें आचार्य अमृतचन्द्रका पुरुषार्थसिद्धयुपायमें निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥ १२॥

अर्थात् कार्मण वर्गणारूप पुद्गल स्कन्ध जीवकृत रागादि परिणामोंका निमित्तमात्र प्राप्तकर स्वयं ही ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे परिणत हो जाते हैं। यहाँ '**स्वयमेव परिणमन्ते**' पद द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादानकी योग्यताके अनुसार स्वयं ही कार्यरूप परिणमन करता है। उस परिणमनमें अन्य पदार्थ तो केवल निमित्त होता है। उसमें उपादानगत परिणमन करानेकी शक्ति नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि निमित्त कारण उपादानके द्वारा होनेवाले कार्यमें कुछ भी सहायता नहीं करता है। फिर भी निमित्तकी उपस्थिति अनिवार्यरूपसे रहती है। बाह्य वस्तु तो कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र है, किन्तु कार्य तो उपादानरूप द्रव्यमें पर्यायगत योग्यताके द्वारा ही होता है। अतः दो द्रव्योंमें जो निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध बतलाया गया है उसे असद्‌भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे ही समझना चाहिए।

उक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि निश्चयनयसे उपादान कारण ही कार्यका कर्ता होता है। इसलिए '**अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते**' ऐसा कथन जैनसिद्धान्तके अनुकूल है। चाहे गुणकी उत्पत्ति हो या दोषकी उत्पत्ति हो, प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें मूलकारण उपादान ही कार्यकारी होता है और निश्चयनयसे उसीमें कर्तृत्वका विधान किया जाता है। व्यवहारनयसे निमित्तका अस्तित्व मानना आवश्यक है, किन्तु निमित्त कारणमें त्रिकालमें भी कर्तृत्व संभव नहीं है। इसी भावको पृष्ठ ९८ पर चतुर्थ श्लोकके चतुर्थ चरण द्वारा प्रदर्शित किया गया है

इस सन्दर्भमें आचार्य पूज्यपाद रचित इष्टोपदेशका निम्नलिखित कथन भी दृष्टव्य है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यत्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थात् उपदेशादि निमित्तोंके द्वारा अज्ञ जनको विज्ञ नहीं बनाया जा सकता है और न विज्ञको अज्ञ बना सकते हैं । क्योंकि इस कार्यमें पर पदार्थ तो निमित्त मात्र होते हैं । जिस प्रकार कि स्वयं गमनशील जीव और पुद्‌गलोंकी गमनक्रिया में धर्मास्तिकाय केवल निमित्त होता है । इसका भाव यही है कि सर्वत्र उपादानकी ही प्रधानता है ।

संस्कृत टीकाकारने चतुर्थ श्लोकके प्रारम्भमें **'मुनीनां पुष्पादिपरिग्रहासंभवात् कथं भगवति पूजा स्यात् ।'** ऐसा जो उत्थानिका वाक्य दिया है वह विचारणीय है । क्योंकि चतुर्थ श्लोकमें पूजाकी कोई बात दृष्टिगोचर नहीं हो रही है । फिर भी यहाँ पूजाकी दृष्टिसे भी विचार किया जा सकता है । यदि यहाँ इस बात-पर विचार किया जाय कि जल, चन्दनादि बाह्य सामग्रीके बिना पूजा हो सकती है या नहीं । तो इसका सीधा और सरल उत्तर है कि बाह्य सामग्रीके बिना भी केवल शुभ परिणामोंसे भगवान्‌की भावपूजा हो सकती है और इस पूजासे जो पुण्य उत्पन्न होता है उसका निमित्त कारण भी कोई न कोई अवश्य रहता है । जब कोई साधु जिनबिम्बके समक्ष स्थित होकर भगवान्‌की स्तुति या भावपूजा करता है उस समय पुण्यकी उत्पत्तिमें जिनबिम्ब निमित्त कारण है । जिनबिम्बके अभावमें भी भावपूजा की जा सकती है । उस समय पूजककी मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति पुण्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण होती है । तात्पर्य यह है कि भावपूजाके करनेसे जो पुण्यरूप कार्य उत्पन्न होता है उसमें उपादानके साथ निमित्त कारणकी उपस्थिति भी अवश्य रहती है ।

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां
तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥ ५ ॥ (६०)

सामान्यार्थ—हे भगवन् ! कार्योंमें बहिरंग और अन्तरंग कारणोंकी यह जो पूर्णता है वह आपके मतमें जीवादि द्रव्यगत स्वभाव है । इस द्रव्यगत स्व-भावके बिना पुरुषोंके मोक्षकी विधि भी नहीं बनती है । इस कारण परम ऋद्धियोंसे सम्पन्न आप गणधरादि बुधजनोंके द्वारा वन्दनीय हैं ।

विशेषार्थ—घटादि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति बहिरंग (निमित्त) और अन्त-रंग (उपादान) कारणोंकी पूर्णता होनेपर ही होती है । घट निर्माण योग्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिट्टीकी अनन्तर पूर्वक्षणवर्ती पर्याय घटका उपादान कारण है और कुम्भकार, दण्ड, चक्रादि उसके निमित्त कारण हैं। जब इन दोनों कारणोंकी पूर्णता होगी तभी घटकी उत्पत्ति होगी। दोनों कारणोंकी अपूर्णताकी स्थितिमें घटादि कार्यकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती है। उपादान तथा निमित्त इन दोनों कारणोंकी अपनी-अपनी समग्रता होनेपर ही कार्य होता है। दोनोंकी समग्रताके बिना कार्यको उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उपादान और निमित्त इन दोनोंकी अपनी-अपनी समग्रताका काल एक ही होता है। इसे ही दोनोंकी काल प्रत्यासत्ति कहते हैं। इस प्रकार उन दोनोंकी समग्रताके समान कालमें कार्य होता है। यही घटादि अथवा जीवादि द्रव्यका स्वभाव (अर्थक्रियाकारित्व) है। जल धारण, आहरण आदि घट द्रव्यका अर्थक्रियाकारित्व है। घटादि द्रव्यका यह स्वभाव अथवा अर्थक्रियाकारित्व उक्त विधिसे ही प्रकट होता है, अन्य विधिसे नहीं। क्योंकि अन्य विधिसे कार्यकी उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है।

उक्त विधि घटादि कार्योंकी उत्पत्तिमें ही चरितार्थ नहीं होती है, किन्तु मोक्षरूप कार्यकी उत्पत्तिमें भी चरितार्थ होती है। मोक्षरूप कार्यकी उत्पत्ति उपादान और निमित्त दोनों कारणोंकी पूर्णता होनेपर ही होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी पूर्णतासे युक्त भव्य जीवकी आत्मा मोक्षका उपादान कारण है तथा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंका अभाव निमित्त कारण है। इन दोनों कारणोंकी पूर्णताके होनेपर ही जीव द्रव्यमें मोक्ष पर्यायरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। यद्यपि कर्मोंके अभावरूप निमित्तके बिना जीवमें मोक्ष पर्यायरूप कार्य नहीं होता है, फिर भी कर्मोंका अभाव जीवकी मोक्ष परिणतिरूप कार्यका कर्तृकारक या करणकारक न होकर केवल निमित्तमात्रका सूचक है। यथार्थमें जीवकी स्वभाव परिणति ही उसकी मोक्षरूप परिणतिका उपादान कारण है। यही जैनदर्शन सम्मत कार्यकारणकी व्यवस्था है।

हे वासुपूज्य जिन ! यतः आपने कार्योंमें द्रव्यगत स्वभाव (कार्यकारणभाव) की युक्तिसंगत व्यवस्था बतलायी है तथा आप अनेक ऋद्धियोंके धारक ऋषि हैं, इसलिए गणधरादि महान् विद्वज्जन मन-वचन-कायसे आपकी वन्दना करते हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१३) श्री विमल जिन स्तवन

य एव नित्यक्षणिकादयो नया
मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः
परस्परेक्षा स्वपरोपकारिणः ।। १ ।।

सामान्यार्थ—हे विमल जिन ! जो नित्य, क्षणिक आदि नय परस्परमें निरपेक्ष होकर स्व और परका नाश करनेवाले हैं, वे ही नय परस्पर सापेक्ष होकर स्व और परका उपकार करने वाले हैं तथा वे ही नय प्रत्यक्षज्ञानी आपके मतमें तत्त्व (सम्यक्नय) हैं ।

विशेषार्थ—ज्ञाता अथवा वक्ताके अभिप्रायको नय कहते हैं[1] । यहाँ नित्य, क्षणिक आदिको जो नय कहा गया है वह उपचारसे कहा गया है । अर्थात् नित्य पदार्थ अथवा क्षणिक पदार्थ नयका विषय होता है । और नयका विषय होनेसे उसे उपचारसे नय कह सकते हैं । यहाँ विषयमें विषयी (ज्ञान) का उपचार करके नित्य, क्षणिक आदिको नय कहा गया है । क्योंकि नय ज्ञानरूप होता है और नित्य, क्षणिक आदि पदार्थ अज्ञानरूप हैं । जैनदर्शनके अनुसार परस्परमें निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और परस्पर सापेक्ष नय सम्यक् होते हैं ।

सांख्य कहता है कि पदार्थ सर्वथा नित्य है । बौद्ध कहता है कि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है । यहाँ नित्य पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानको नित्यनय कह सकते हैं और क्षणिक पदार्थको विषय करनेवाला ज्ञान क्षणिकनय है । यहाँ विचारणीय यह है कि क्या पदार्थ सर्वथा नित्य है अथवा सर्वथा क्षणिक है । यथार्थमें पदार्थ न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा क्षणिक है, किन्तु कथंचित् नित्य है और कथंचित् क्षणिक है । द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे जीवादि वस्तुत्त्व नित्य है और पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे क्षणिक है । नित्यत्व और क्षणिकत्व इन दो धर्मोंके परस्पर सापेक्ष होनेपर ही उनका अस्तित्व सम्भव है । अन्यथा एकके अभावमें दूसरेका अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है । अतः परस्परमें निरपेक्ष नय स्वपरप्रणाशी हैं ।

---

१. नयो ज्ञातुरभिप्रायः । —लघीयस्त्रय कारिका ५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ स्वपरप्रणाशी शब्दका अर्थ दो प्रकारसे किया जा सकता है—(१) क्षणिक निरपेक्ष नित्य नय अपना नाश तो करता ही है, साथ ही क्षणिक नयका भी नाश करता है। (२) नित्य नयका आग्रह रखनेवाले व्यक्तिकी आत्मा स्व है और वह जिन दूसरे जनोंको नित्य नयकी ग्राह्यताका बोध कराता है वे पर हैं। यहाँ नित्य नयका आग्रही व्यक्ति स्वका नाश तो करता ही है, साथ ही वह पर (अन्य जनों) का नाश भी करता है। अर्थात् स्व और पर दोनों वस्तुतत्त्वके विषयमें अज्ञानी होनेके कारण स्व-पर कल्याण नहीं कर सकते हैं। वे तो संसार सागरमें चक्कर लगाते रहते हैं। जो बात नित्य नयके विषयमें कही गई है वही बात क्षणिक नयके विषयमें भी समझ लेनी चाहिए।

हे विमल जिन! आप कर्म कलंकसे रहित होनेके कारण विमल हैं और प्रत्यक्षज्ञानी मुनि हैं। आपके मतमें नित्य, क्षणिक आदि नय परस्परमें सापेक्ष हैं। इसलिए वे तत्त्व (वास्तविक) हैं और स्व तथा परके उपकारी हैं।

यहाँ स्वपरोपकारी शब्दका अर्थ भी दो प्रकारसे किया जा सकता है—(१) क्षणिक सापेक्ष नित्य नय अपना भला तो करता ही है, साथ ही वह क्षणिक नयका भी भला करता है। इसी प्रकार नित्य सापेक्ष क्षणिक नय अपना भला तो करता ही है, साथ ही वह नित्य नयका भी भला करता है। (२) परस्पर सापेक्ष नित्य, क्षणिक आदि नयोंका ज्ञाता स्व है और वह जिन दूसरे जनोंको सापेक्ष नयोंका ज्ञान कराता है वे पर हैं। अतः सापेक्ष नय स्व और पर दोनोंका कल्याण करते हैं। अर्थात् वस्तु तत्त्वके विषयमें यथार्थ ज्ञान हो जानेके कारण वे दोनों ही कल्याणके मार्ग पर चलते हुए स्व-पर कल्याण करते हैं। इस प्रकार सापेक्ष नय स्वपरोपकारी होते हैं।

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये
समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्।
तथैव सामान्यविशेषमातृका
नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः॥ २॥

सामान्यार्थ—हे विमल जिन! जिस प्रकार एक-एक कारक अपनी सहायता करनेवाले अन्य कारककी अपेक्षा करके ही अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है, उसी प्रकार सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले जो नय हैं वे आपके मतमें मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोकमें प्रयुक्त कारक शब्दका अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है—(१) कारक वह है जो कार्यको करता है अथवा (२) जिसके द्वारा कार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पन्न होता है। प्रथम अर्थमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारक कहलाते हैं। द्वितीय अर्थमें उपादान और निमित्त कारण कारक होते हैं। घटादि कार्योंकी उत्पत्ति कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके परस्परमें सहयोगसे होती है। घटकी उत्पत्तिमें कुंभकार कर्ता कारक है, घट कर्म कारक है और दण्ड करण कारक है। अन्य कारकोंकी सहायताके विना अकेला कुंभकार घटको नहीं बना सकता है। घटको बनानेके लिए उसे अन्य कारकोंकी सहायता लेनी ही पड़ती है। तभी घटरूप कार्यकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार घटादि कार्यकी उत्पत्ति उपादान कारण और निमित्त कारणके पारस्परिक सहयोगसे होती है। अन्य कारणके सहयोगके विना अकेला उपादान कारण या अकेला निमित्त कारण कार्यकी उत्पत्ति नहीं कर सकता है। घटकी उत्पत्तिमें मृद्द्रव्य उपादान कारण है और कुंभकार, दण्ड, चक्र आदि निमित्त कारण हैं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि दोनों कारणोंकी पूर्णता या अनुकूलता होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

जो बात कारकके विषयमें कही गई है वही बात सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके विषयमें भी चरितार्थ होती है। कोई भी वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप होती है। द्रव्यार्थिक नय द्रव्य अथवा सामान्यको विषय करता है और पर्यायार्थिक नय पर्याय अथवा विशेषको विषय करता है। वक्ताका अभिप्राय जब सामान्यके प्रतिपादन करनेका होता है तब वस्तुका सामान्य धर्म मुख्य हो जाता है और विशेष धर्म गौण हो जाता है। उस समय वस्तुमें विशेषका भी अस्तित्व है किन्तु वक्ताकी दृष्टिसे ओझल होनेके कारण वह गौण कहलाता है। इसी प्रकार जब वक्ताका अभिप्राय विशेषके प्रतिपादन करनेका होता है तब वस्तुका विशेष धर्म मुख्य हो जाता है और सामान्य धर्म गौण हो जाता है। उस समय वस्तुमें सामान्यका भी अस्तित्व है किन्तु वक्ताकी दृष्टिसे ओझल होनेके कारण वह गौण कहलाता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय जब परस्परमें सापेक्ष रहते हैं तभी सम्यक् नय कहलाते हैं। यदि द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा न करके स्वतन्त्ररूपसे द्रव्यको विषय करता है अथवा पर्यायका निराकरण करता है तो वह मिथ्या नय है। इसी प्रकार यदि पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा न करके स्वतन्त्ररूपसे पर्यायको विषय करता है अथवा द्रव्यका निराकरण करता है तो वह मिथ्या नय है। अतः नयोंका परस्पर सापेक्ष होना आवश्यक है। श्री विमल जिनके मतमें नयोंके विषय (सामान्य और विशेष अथवा द्रव्य और पर्याय) में मुख्य और गौणकी व्यवस्था द्वारा नयोंमें सापेक्षता सिद्ध की गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह विचारणीय है कि जिस प्रकार सामान्य, विशेष आदि धर्मोंमें मुख्य और गौण की व्यवस्था होती है, क्या उसी प्रकार नयोंमें भी मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है। इस विषयमें यह कहा जा सकता है कि वक्ता जिस नयकी अपेक्षासे कथन करता है उस नयको मुख्य अथवा विवक्षित नय और अन्य नयोंको गौण अथवा अविवक्षित नय समझना चाहिए।

संस्कृत टीकाकारने 'सामान्यविशेषमातृका नयाः' इस वाक्यका अर्थ दो प्रकारसे किया है—(१) सामान्य और विशेष हैं माता जिनकी अर्थात् नय सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होते हैं। (२) नय सामान्य और विशेषको जानने वाले होते हैं। यहाँ प्रथम अर्थ ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि जैनदर्शनके अनुसार ज्ञान अर्थसे उन्पन्न नहीं होता है। बौद्धदर्शन ऐसा मानता है कि ज्ञान अर्थसे उत्पन्न होता है और तदाकार होता है।

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः
प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव।
समग्रतास्ति स्वपरावभासकं
यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे विमल जिन! परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले अन्वय (सामान्य) और भेद (विशेष) के ज्ञानसे सिद्ध होनेवाले सामान्य और विशेषकी आपके मतमें उसी प्रकार पूर्णता है जिस प्रकार भूतल पर बुद्धिलक्षण प्रमाणकी स्व-पर प्रकाशकके रूपमें पूर्णता है।

विशेषार्थ—प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेषरूप होता है। मनुष्य सामान्य और विशेष दोनों रूप है। जितने मनुष्य हैं उन सबमें मनुष्यत्व पाया जाता है, यही सामान्य है। और प्रत्येक मनुष्यमें अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं जिनके कारण वह अन्य मनुष्योंसे पृथक् होता है। इसीका नाम विशेष है। सामान्य और विशेषकी सिद्धि अभेद ज्ञान (अन्वय ज्ञान) और भेद ज्ञानसे होती है। सब मनुष्योंमें 'यह मनुष्य है', 'यह मनुष्य है' ऐसा जो अभेद ज्ञान होता है उससे सामान्यकी सिद्धि होती है। देवदत्त यज्ञदत्तसे भिन्न है, राम मोहनसे भिन्न है, मनुष्योंमें ऐसा जो भेद ज्ञान होता है उससे विशेषकी सिद्धि होती है। अभेद ज्ञान और भेद ज्ञान ये दोनों परस्परमें सापेक्ष होकर ही सामान्य और विशेषकी सिद्धि करते हैं, निरपेक्ष होकर नहीं। इसी प्रकार सामान्य और विशेष ये दोनों परस्परमें सापेक्ष होकर ही वस्तुमें पूर्णताको प्राप्त करते हैं, निरपेक्ष होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं। विशेषके बिना सामान्य और सामान्यके बिना विशेष अपूर्ण है। एक ही वस्तुको सामान्य और विशेषरूप होनेमें कोई विरोध नहीं है। एक ही वस्तुमें सामान्य और विशेष ये दोनों धर्म विशेषण-विशेष्यभावसे रहते हैं। सामान्य विशेषण है और विशेष विशेष्य है। मनुष्यत्व विशेषण है और मनुष्य व्यक्ति विशेष्य है। इन दोनोंके मेलसे ही वस्तुमें पूर्णता आती है। इसी बातको निम्न-लिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।

प्रमाण बुद्धिलक्षण (ज्ञानरूप) होता है और बुद्धिलक्षण प्रमाण स्वपरप्रकाशक होकर ही पूर्णताको प्राप्त करता है। प्रमाणमें स्वप्रकाशकत्व और परप्रकाशकत्व ये दो धर्म पाये जाते हैं। ये दोनों धर्म परस्परमें सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं। स्वप्रकाशकत्वके बिना परप्रकाशकत्व और परप्रकाशकत्वके बिना स्वप्रकाशकत्व नहीं बनता है। यहाँ स्तुतिकार आचार्य समन्तभद्रने प्रमाण-का लक्षण भी बतला दिया है। प्रमाण वह ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) है जो स्व और परका अवभासक (जाननेवाला) होता है। प्रमाण ज्ञानरूप होता है, अज्ञानरूप (सन्निकर्षादिरूप) नहीं। प्रमाणरूप ज्ञान स्वका तथा परका प्रकाशक होता हैं। मीमांसक परोक्ष ज्ञानवादी हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान पर (घटादि) का प्रकाशक तो है किन्तु स्वका प्रकाशक नहीं है। अर्थात् ज्ञान घटका प्रत्यक्ष तो करता है किन्तु वह अपना प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। यहाँ स्वपरावभासक पदके द्वारा परोक्ष-ज्ञानवादी मीमांसकोंका खण्डन हो जाता है। ज्ञान केवल परका ही अवभासक नहीं है किन्तु स्वका भी अवभासक है। जो ज्ञान स्वपरावभासक होता है वह सम्यग्ज्ञान ही है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः स्वपरावभासक सम्यग्ज्ञान प्रमाण होता है। उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार ज्ञानस्वपरप्रकाशक होकर ही पूर्णताको प्राप्त करता है उसी प्रकार वस्तु सामान्यविशेषात्मक होकर ही पूर्णताको प्राप्त होती है।

विशेष्यवाच्यस्य विशेषणं वचो
यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत्।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते
विवक्षितात् स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे विमल जिन! वाच्यभूत विशेष्यका वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है, विशेषण कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह विशेष्य होता है। आपके मतमें विशेषण और विशेष्यमें सामान्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपताका अतिप्रसंग नहीं आ सकता है। क्योंकि स्यात् पदके द्वारा विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका परिहार हो जाता है।

विशेषार्थ—यहाँ विशेषण और विशेष्यके स्वरूपका विचार किया गया है। जिसके द्वारा किसी पदार्थ की विशेषता बतलायी जाती है वह विशेषण कहलाता है और जिसकी विशेषता बतलायी जाती है वह विशेष्य होता है। जैसे कृष्ण सर्प। यहाँ कृष्ण विशेषण है और सर्प विशेष्य है। जिस विशेष्यके विषयमें कुछ कहा जाता है वह वाच्यभूत (वचनका विषय) विशेष्य है। वाच्यभूत विशेष्य सामान्य और विशेष दोनों होते हैं। जब सामान्य वाच्यभूत होता है तब विशेष उसका विशेषण होता है और जब विशेष्य वाच्यभूत होता है तब सामान्य उसका विशेषण होता है। सर्वथा अवक्तव्यवादी कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वस्तु वचनोंके अगोचर है। अर्थात् वचनों की प्रवृत्ति वस्तुमें नहीं होती है। ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्य और विशेष दोनोंको वाच्यभूत होनेके कारण उक्त मत निरस्त हो जाता है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि विशेषण और विशेष्य दोनोंमें सामान्यरूपताका प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है—कृष्ण सर्प ऐसा कहनेपर सर्व सर्प कृष्ण हो जावेंगे। इस तरह सर्प विशेष्यमें सामान्यरूपताका प्रसंग आता है। तथा जैसे सर्प पृष्ठ (पीठ) आदि की अपेक्षासे कृष्ण है वैसे उदर आदि की अपेक्षासे भी कृष्ण हो जायेगा। इस प्रकार कृष्ण विशेषणमें सामान्यरूपताका प्रसंग आता है।

उक्त प्रकार की शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अनेकान्त दर्शनमें कोई भी कथन स्यात् पद की अपेक्षा से होता है। अतः स्यात् पद युक्त कथनके द्वारा विवक्षित विशेषण और विशेष्यसे अन्य अविवक्षित विशेषण और विशेष्यका निराकरण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सर्प कथंचित् कृष्ण है, सर्वथा नहीं। अर्थात् वह पृष्ठ आदि की अपेक्षासे कृष्ण है, उदर आदि की अपेक्षासे नहीं। सर्प भी कोई ही कृष्ण होता है, सब सर्प कृष्ण नहीं होते हैं। शुक्ल आदि रंगके भी सर्प देखे जाते हैं। इस प्रकार स्यात् (कथंचित्) शब्दके प्रयोग द्वारा विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका निराकरण हो जाता है। अतएव विशेषण और विशेष्यमें सामान्यरूपताका प्रसंग नहीं आ सकता है।

नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता
रसोपविद्धा इव लोहधातवः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ ५ ॥ (६५)

सामान्यार्थ—हे विमल जिन ! आपके मतमें जो नय हैं वे स्यात् पदरूप सत्यसे चिह्नित हैं। और रस (पारा) से अनुलिप्त लोह धातुओं की तरह अभिप्रेत फलको देते हैं। इसीलिए अपना हित चाहनेवाले आर्य जन आपके प्रति नतमस्तक हैं।

विशेषार्थ—अनेकान्त दर्शनमें वक्ता या प्रतिपत्ताके अभिप्रायरूप जो नय हैं वे स्यात् पदसे अंकित होते हैं। यह स्यात् पद सत्यरूप है और वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादक है। नयोंके द्वारा अनेक धर्मोंमेंसे एक समयमें एक धर्मका प्रतिपादन किया जाता है। उस एक धर्मका प्रतिपादन स्यात् पदके प्रयोगके बिना संभव नहीं है। यह हो सकता है कि किसी वाक्यमें स्यात् शब्दका प्रयोग न किया गया हो, फिर भी वहाँ स्यात् पदकी अपेक्षा अवश्य रहती है। स्यात् शब्दका पर्यायवाची शब्द कथंचित् है। जब वक्ता कहता है कि वस्तु नित्य है उस समय भी उसका आशय यही है कि वस्तु कथंचित् नित्य है। इस प्रकार नय स्यात् पदसे चिह्नित होते हैं।

जिस प्रकार पारा आदि रसोंसे अनुलिप्त लोहा, ताँबा आदि धातुयें स्वर्णरूप परिणत होकर अभिप्रेत फलको देती हैं उसी प्रकार स्यात् पदसे अनुविद्ध नय भी अभिप्रेत फलको देते हैं। कोई साधक अपने मनोरथोंको पूर्तिके लिए लोहासे स्वर्ण बनानेकी साधना करता है। वह पारा आदिके रससे लोहाको अनुलिप्त करता है और इस प्रक्रिया द्वारा स्वर्णको प्राप्त करके अपनी इच्छित वस्तुओंको प्राप्त करता है। नय भी नयके ज्ञाताको अभिप्रेत फल देते हैं। नयोंका साक्षात् फल वस्तुतत्त्वका यथार्थ ज्ञान है। नयोंके उपयोगसे ऐसा सम्यग्ज्ञान हो जाता है कि वस्तु कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। नयोंके द्वारा वस्तुतत्त्वका सम्यग्ज्ञान हो जानेपर व्यक्ति परम्परया स्वर्ग और अपवर्गको भी प्राप्त कर सकता है। यह नयोंका परम्परा फल है।

यतः श्री विमल जिनके मतमें स्यात् पदसे अंकित नय अभिप्रेत फलको देते हैं, अतः अपना हित चाहनेवाले गणधर आदि आर्य पुरुष विमलनाथ भगवान्‌को प्रणाम करते हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१४) श्री अनन्त जिन स्तवन

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो
विषङ्गवान् मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ।। १ ।।

सामान्यार्थ—हे अनन्त जिन ! जिसका चित्तरूप शरीर अनन्त दोषोंका आधार है और जो चिरकालसे हृदयमें संलग्न है, ऐसा मोहरूप पिशाच तत्त्वोंकी श्रद्धामें प्रसन्नता धारण करनेवाले आपके द्वारा जीत लिया गया है, इसलिए आप भगवान् अनन्तजित् कहलाते हैं ।

विशेषार्थ--चौदहवें तीर्थंकरका नाम अनन्तजित् है । यह नाम सार्थक है । क्योंकि उन्होंने राग, द्वेष, काम, क्रोधादि अनन्त दोषोंको जीत लिया है । इस बातको इस प्रकार समझाया गया है । एक मोहरूप पिशाच है । उसके चित्तमें राग, द्वेषादि अनन्त दोष निवास करते हैं । राग, द्वेषादि दोषोंका आधार पिशाच का शरीर नहीं है किन्तु चित्त है । रागादि दोष शरीरमें नहीं रहते हैं किन्तु चित्तमें रहते हैं । उपरिलिखित श्लोकमें आशय शब्दके द्वारा रागादि दोषोंके आधारभूत चित्तको बतलाया गया है । आशय शब्दके साथ विग्रह (शरीर) शब्दका भी प्रयोग हुआ है । इसका तात्पर्य यही है कि मोहरूप पिशाचका चित्त-रूप शरीर अनन्त दोषोंका आश्रय है । ऐसा मोहरूप पिशाच चिरकालसे संसारी प्राणियोंके हृदयमें बैठा हुआ है । उसीके कारण स्त्री-पुत्रादि तथा धन-धान्यादि पर पदार्थोंमें 'यह सब मेरा है' इस प्रकारका ममत्वभाव होता है ।

ऐसे मोहरूप पिशाचको श्री अनन्तजिनने जीत लिया है । उन्होंने मोहरूप पिशाचको सरलतापूर्वक नहीं जीता है, किन्तु इसके लिए कुछ प्रयत्न करना पड़ा है । वह प्रयत्न है जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानमें प्रसन्नताका अनुभव करना । ऐसा करनेसे विपरीताभिनिवेशरूप मलका शोधन होकर सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिपूर्वक मिथ्यादर्शनका नाश हो जाता है । मोहरूप पिशाचको मिथ्यात्वरूप पिशाच भी कह सकते हैं । संसार अनन्त है और अनन्त संसारका कारण मिथ्यात्व भी अनन्त है । ऐसे अनन्त मिथ्यात्वको जीतनेके कारण श्री अनन्त जिनका अनन्तजित् यह नाम सार्थक है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिना-
मशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं
समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ।। २ ।।

सामान्यार्थ--हे अनन्त जिन ! दुाख देनेवाले कपाय नामक शत्रुओंके नाम-को नष्ट करते हुए आप सर्वज्ञ हुए हैं। आपने संतापदायक कामदेवके दुरभिमान-रूप आमय (रोग) को ध्यानरूप औपधिके गुणोंके द्वारा विनष्ट किया है।

विशेषार्थ—यहाँ श्री अनन्त जिनके विषयमें दो महत्त्वपूर्ण बातें बतलायी गयी हैं। (१) उन्होंने कपाय नामक शत्रुओंको जीता है और (२) कामदेवके गर्व-को चूर-चूर किया है। क्रोध मान, माया और लोभ ये चार कषायें हैं। इनमें भी प्रत्येकके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भेदसे चार-चार भेद होते हैं। इस प्रकार कपायके सोलह भेद हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त हास्य, रति, अरति आदि नौ नोकपाय भी हैं। अतः कषायके कुल भेद पच्चीस होते हैं। कषाय दुःखदायक होनेसे जीवका शत्रु है। क्योंकि वह आत्माको कर्म-बन्धनमें बाँधती है। श्री अनन्त जिनने ऐसी कषायोंको सम्यग्दर्शनादिके द्वारा समूल नष्ट कर दिया है। कषायोंके समूल नाश हो जानेसे आत्मामें उनका नाम भी शेष नहीं रहा है। इस प्रकार कषायरूप शत्रुओंके नाश हो जानेपर श्री अनन्त जिन सर्वज्ञ हो गये।

श्री अनन्त जिनने मन्मथ (काम) को भी जीत लिया है। सामान्यरूपसे भोगाभिलाषाको काम कहते हैं और विशेष रूपसे स्त्री-पुरुषकी रतिक्रियाको काम कहते हैं। कामको देव भी कहा गया है। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि अन्य कई शक्तिशाली देव हैं वैसे काम भी एक शक्तिशाली देव माना गया है। कामदेवको इस बातका बड़ा भारी घमण्ड रहता है कि संसारका प्रत्येक प्राणी मेरे वशमें है। काम प्राणियोंके हृदयमें सदा संताप उत्पन्न करता रहता है। उसपर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। काम एक भयंकर रोग है। इस रोगकी शान्तिके लिए उत्तम औषधिकी आवश्यकता होती है। कामरोगको शान्ति ध्यानरूप औषधिके द्वारा होती है। श्री अनन्त जिनने ध्यानरूप औषधिके द्वारा कामरूप रोगको नष्ट कर दिया है। इस प्रकार श्री अनन्त जिन निष्कषाय, निष्काम और सर्वज्ञ हुए हैं।

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी
त्वया स्वतृष्णासरिदार्य शोषिता ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा
परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे आर्य ! जिसमें परिश्रमरूप जल भरा है और भयरूप तरंगोंकी मालायें उठती हैं ऐसी अपनी तृष्णा नदीको आपने अपरिग्रह रूप ग्रीष्म-कालीन सूर्यकी किरणोंके तेजसे सुखा दिया है। इसलिए आपका निर्वृति तेज उत्कृष्ट है।

विशेषार्थ—तृष्णा नदीके समान है। तृष्णा भोगकांक्षाको कहते हैं। संसारके प्राणियोंकी तृष्णा इतनी तीव्र होती है कि संसारके समस्त वैभवों की प्राप्ति हो जानेपर भी उसकी पूर्ति नहीं होती है। तृष्णा रूप गड्ढा इतना विशाल है कि उसमें समस्त विश्व अणुके समान प्रतीत होता है। तृष्णारूप नदीमें परिश्रमरूप जल भरा रहता है और भयरूप लहरें उठा करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह प्राणी भोगाकांक्षाकी पूर्तिके लिए निरन्तर कठोर परिश्रम करके भोगोंकी सामग्रीको एकत्रित करता है। फिर भी उसे सदा यह भय बना रहता है कि इतने परिश्रमसे प्राप्त की गई भोगसामग्री नष्ट न हो जाय अथवा विषय सेवनमें कोई बाधा उपस्थित न हो जाय। ऐसी तृष्णाको श्री अनन्त जिनने अपरिग्रहके द्वारा नष्ट कर दिया है। तृष्णाको जीतनेका अमोघ उपाय परिग्रहका त्याग है। परिग्रहके सद्भावमें तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। श्री अनन्त जिनने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहोंका सर्वथा त्याग कर दिया है। इसलिए वे असंग (निर्ग्रन्थ) हैं।

जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंके प्रचण्ड तेजसे नदीका पानी सूख जाता है उसी प्रकार श्री अनन्त जिनने अपरिग्रहरूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंके प्रचण्ड प्रतापसे अपनी तृष्णा नदीके पानीको सुखा दिया है। निरन्तर निःसङ्गत्वका अभ्यास, विवेकका उपयोग, परम ध्यान आदि अपरिग्रहरूप सूर्यकी किरणें हैं और इन किरणोंके तेजसे तृष्णा नदीका पानी सूख जाता है। अतः श्री अनन्त जिनका निर्वृतिधाम (परिग्रह त्यागरूप तेज) उत्कृष्ट है, जिसके समक्ष तृष्णाका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

सुहृत् त्वयि श्री सुभगत्वमश्नुते
द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि
प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्यार्थ—हे प्रभो ! जो आपमें अनुराग रखता है वह लक्ष्मीके सौभाग्यको प्राप्त करता है और जो आपमें द्वेष रखता है वह प्रत्ययको तरह नष्ट हो जाता है। किन्तु आप दोनोंमें अत्यन्त उदासीन रहते हैं। आपका यह चरित्र बड़ा ही विचित्र है।

विशेषार्थ—जो पुरुष अनन्तनाथ भगवान्का अनुरागी है, भक्त है, वह भक्तिके प्रसादसे धन-सम्पत्ति आदि लौकिक और अनन्तज्ञानादि अलौकिक लक्ष्मीका स्वामी होता है। भगवान्का भक्त पुरुष साक्षात् लौकिक लक्ष्मीको प्राप्त करता है और परम्परया अलौकिक लक्ष्मीको प्राप्त करता है। अपनी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् भक्तको कुछ देते नहीं हैं, किन्तु वह स्वयं ही पुण्यबन्धके द्वारा भक्तिके फलको प्राप्त करता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान्में द्वेष रखता है, उनकी निन्दा करता है, वह प्रत्ययकी तरह नष्ट होकर चतुर्गतियोंमें भ्रमण करता हुआ अनेक दुःखोंको भोगता रहता है। यहाँ प्रत्यय शब्दका अर्थ समझना आवश्यक है। व्याकरणशास्त्रमें क्विप् आदि अनेक प्रत्यय होते हैं। सुकृत् शब्दको सिद्ध करनेके लिए क्विप् प्रत्ययका संयोग होने पर भी वह क्विप् प्रत्यय उस शब्दके साथ रहता नहीं है, किन्तु उसका लोप हो जाता है। सु उपसर्गपूर्वक कृ धातुसे क्विप् प्रत्यय होता है और उसका पूर्ण लोप हो जाता है। इसके बाद तुक् प्रत्यय होता है तब सुकृत् शब्द बनता है। इसीप्रकार क्विन्, विच् आदि कुछ और भी ऐसे प्रत्यय हैं जिनका सर्वथा लोप हो जाता है।

प्रत्ययका अर्थ ज्ञान भी होता है। अतः जिस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान क्षणिक होनेके कारण नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्में द्वेष रखनेवाला पुरुष क्विप् आदि प्रत्ययकी तरह अथवा इन्द्रियजन्य क्षणिक ज्ञानकी तरह नाशको प्राप्त होता है। भगवान् अपनी निन्दासे अप्रसन्न होकर द्वेषी पुरुषको दुःख नहीं देते हैं, किन्तु भगवान्का निन्दक पुरुष पापबन्धके द्वारा स्वयं अपने कर्मोंके फलको प्राप्त करता है। भगवान् तो वीतराग होनेके कारण प्रशंसक और निन्दक, अनुरागी और द्वेषी दोनोंमें ही अत्यन्त उदासीन रहते हैं। उन्हें न प्रशंसासे कुछ प्रयोजन है और न निन्दासे। श्री अनन्त जिनका यह चरित्र अत्यन्त आश्चर्यजनक है। ऐसा चरित्र संसारके अन्य देवोंमें नहीं पाया जाता है। अन्य देव तो अपनी भक्तिसे प्रसन्न होकर भक्तको इष्ट फल देते हैं और अपनी निन्दासे अप्रसन्न होकर निन्दकको अनिष्ट फल देते हैं। प्रशंसक और निन्दकमें उदासीन रहना सरल नहीं है। दोनोंमें उदासीन वही रह सकता है जो वीतराग हो। श्री अनन्त जिन ऐसे ही वीतराग देव हैं। इसीलिए उनका चरित्र बड़ा विचित्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम
प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने ।
अशेषमाहात्म्यमनोरयन्नपि
शिवाय संस्पर्श इवामृताम्बुधेः ।। ५ ।। (७०)

सामान्यार्थ—हे महामुने ! आप ऐसे हैं, वैसे हैं, इस प्रकार मुझ अल्पबुद्धि का यह स्तुतिरूप थोड़ा सा प्रलाप है। अमृत-समुद्रके संस्पर्शके समान आपके अशेष माहात्म्यका कथन न करते हुए भी मेरा यह थोड़ा-सा प्रलाप आपके गुणोंका संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणके लिए होता है।

विशेषार्थ—श्री अनन्त जिन महामुनि हैं—समस्त पदार्थोंके प्रत्यक्षदर्शी मुनि-नाथ हैं। वे अनन्तज्ञानादि अनन्तगुणोंके समुद्र हैं। यहाँ स्तुतिकार अपनी अल्पज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे भगवन् ! मैं अल्पज्ञ हूँ—अल्पबुद्धिका धारक हूँ। आप गुणोंके समुद्र हैं। अल्पज्ञ मैं गुण-समुद्र आपके सम्पूर्ण माहात्म्यका वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ। भक्तिवश मैं आपकी स्तुतिके रूपमें 'आप ऐसे हैं, वैसे हैं,' इत्यादि कुछ शब्द ही कह सकता हूँ। तो भी आपकी स्तुतिरूप यह प्रलापलेश मेरे कल्याणके लिए होता है। मैं आपकी स्तुति द्वारा पुण्यका उपार्जन करता हूँ और पुण्यके उपार्जनसे सांसारिक सुखोंको प्राप्त करता हुआ अन्तमें मोक्ष सुखको भी प्राप्त कर सकता हूँ।

एक अमृत-समुद्र है। हर एक व्यक्ति उसमें अवगाहन नहीं कर सकता है। फिर भी यदि कोई व्यक्ति अमृत-समुद्रका स्पर्श कर ले तो वह स्पर्श उसके लिए लाभदायक होता है। स्पर्श करनेवाला व्यक्ति अमृत-समुद्रके माहात्म्यको न कहता हुआ भी केवल उसके स्पर्शमात्रसे आनन्दको प्राप्त करता है। उसी प्रकार श्री अनन्त जिनके अनन्त गुणोंके माहात्म्यको कहनेमें असमर्थ होने पर भी उन गुणोंके प्रलापलेश रूप जो संस्पर्श है वह भी स्तुतिकारके कल्याणका कारण होता है। भगवान्‌के अनन्त गुणोंकी स्तुति तो सम्भव ही नहीं है। अतः उनके कुछ गुणोंके स्मरण या स्तवन मात्रसे भव्य जीव संसारके बन्धनसे मुक्त हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१५) श्री धर्म जिन स्तवन

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्
धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् ।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः
शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—हे धर्म जिन ! निर्दोष धर्मतीर्थको प्रवर्तित करते हुए आप सत्पुरुषों द्वारा 'धर्म' इस नामके धारक माने गये हैं। तथा आपने तपरूप अग्नियोंके द्वारा कर्मरूप वनको जलाया है और अविनाशी सुखको प्राप्त किया है। इसलिए आप शंकर भी हैं।

विशेषार्थ—पन्द्रहवें तीर्थंकरका नाम 'धर्म' है। उनका यह नाम सार्थक है। क्योंकि उन्होंने निर्दोष धर्म तीर्थको प्रवर्तित किया है। उत्तम क्षमादिको अथवा सम्यग्दर्शनादिको धर्म कहते हैं। यह धर्म संसार समुद्रसे पार उतरनेका साधन होनेसे तीर्थ कहलाता है। तीर्थ घाटको कहते हैं। नदीके किनारे घाट बने रहते हैं। स्नानादि करनेके इच्छुक जन घाटके माध्यमसे स्नानादि क्रियाओंको सुगमतापूर्वक सम्पन्न कर लेते हैं। इसी प्रकार मोक्षके इच्छुक जन धर्मतीर्थके द्वारा संसार समुद्रको पार करके मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेते हैं। धर्म तीर्थका दूसरा अर्थ आगम भी होता है। धर्मका प्रतिपादन करनेवाला जो आगम है वह धर्म तीर्थ है। उत्तम क्षमादिरूप धर्म तीर्थ हिंसादि पापोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष है और आगमरूप धर्म तीर्थ पूर्वापरविरोधसे रहित होनेके कारण निर्दोष है।

श्री धर्म जिनने ऐसे धर्म तीर्थका प्रवर्तन किया है। इसलिए गणधरदेवादि सत्पुरुषों द्वारा उनका 'धर्म' यह सार्थक नाम स्वीकार किया गया है। श्री धर्म जिनको शंकर भी कहते हैं। शंकरका अर्थ है—सुखको देनेवाला। श्री धर्म जिनने द्वादश प्रकारके तपरूप अग्निके द्वारा कर्मरूप वनको जलाकर अविनाशी अनन्त सुखको स्वयं प्राप्त किया है तथा धर्मतीर्थका प्रवर्तन करके भव्य जीवोंको भी सुख प्राप्त कराया है। इसलिए उनका शंकर यह नाम भी सार्थक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवमानवनिकायसत्तमै-
रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः ।
तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो
व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे धर्म जिन ! देव और मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्टित तथा गणधरादि विद्वानोंसे घिरे हुए आप उसी प्रकार सुशोभित हुए हैं जिस प्रकार आकाशमें निर्मल पूर्ण चन्द्रमा ताराओंसे परिवेष्टित होकर शोभित होता है ।

विशेषार्थ—चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जानेपर श्री धर्म जिन समवसरण सभाके मध्य विराजमान हैं । समवसरणमें देव और मनुष्योंके समूहमें जो श्रेष्ठतम (भव्य जीव) हैं वे बैठे हुए हैं तथा गणधरादि विशिष्ट विद्वान् भी बैठे हुए हैं । इन सबके द्वारा चारों ओरसे वेष्टित (घिरे हुए) श्री धर्म जिन उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हैं जिस प्रकार आकाशमें घनपटलादि आवरणसे रहित पूर्ण चन्द्रमा ताराओं द्वारा चारों ओरसे वेष्टित होकर शोभित होता हैं । चन्द्रमाका एक नाम शशलाञ्छन है । चन्द्रमामें शश (खरगोश) जैसा लाञ्छन (चिह्न) दिखता है, इसलिए उसको शशलाञ्छन कहते हैं । यदि चन्द्रमा घनपटलसे आच्छादित हो अथवा अपूर्ण हो तो वह शोभाको प्राप्त नहीं होता है । अतः निर्मल और पूर्ण चन्द्रमा ही ताराओंसे परिवेष्टित होकर शोभित होता है ।

श्री धर्म जिन चार घातिया कर्मोंका नाश करके पूर्ण निर्मल हो गये हैं । सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी होनेसे पूर्णताको प्राप्त हैं । ऐसे श्री धर्म जिन समवसरण सभामें श्रेष्ठतम देव और मनुष्योंसे तथा गणधरादि विशिष्ट विद्वानोंसे परिवेष्ठित होकर चन्द्रमासे भी अनन्तगुणी शोभाको प्राप्त होते हैं ।

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो
देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्
नापि शासनफलैषणातुरः ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे धर्म जिन ! आप प्रातिहार्यों और अन्य विभवोंसे विभूषित होते हुए भी न केवल उनसे किन्तु शरीरसे भी विरक्त रहे हैं । आपने मनुष्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा देवोंको मोक्षमार्गका उपदेश दिया। परन्तु आप उपदेशके फलकी इच्छासे आतुर नहीं हुए।

विशेषार्थ—समवसरण सभामें विराजमान श्री धर्म जिन छत्र, चमर, सिंहासन, भामण्डल, अशोक वृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनि इन आठ प्रातिहार्यों तथा समवसरणादि विभूतियोंसे सुशोभित होते हुए भी वीतराग होनेसे इन सबमें रागरहित या ममत्व रहित थे। इतना ही नहीं वे शरीरसे भी विरक्त थे। जब शरीरमें ही उनका अनुराग नहीं था तब वे अन्य वस्तुओंमें अनुरक्त कैसे हो सकते थे। अर्थात् श्री धर्म जिन पूर्ण वीतरागी थे। फिर भी तीर्थंकर प्रकृतिरूप पुण्य कर्मके उदयसे उन्होंने इच्छाके बिना ही भव्य जीवोंके नियोगसे मनुष्यां और देवोंको मोक्षमार्गका उपदेश दिया था। वे कभी भी उपदेश देनेके फलकी इच्छासे आतुर नहीं हुए। जब उनको उपदेश देनेकी इच्छा ही नहीं थी तब उन्हें उपदेशके फलकी इच्छा कैसे हो सकती थी। जो व्यक्ति किसी इच्छासे प्रेरित होकर उपदेश देता है वह उपदेशके फलको प्राप्त करनेको इच्छासे सदा व्यग्र रहता है। किन्तु वीतराग होनेसे श्री धर्म जिनने कभी भी यह इच्छा नहीं की कि मेरे उपदेशका फल उपदिष्ट जीवोंकी मुझमें भक्ति या उनकी कार्यसिद्धिके रूपमें प्रकट हो। जो उपदेशके फलके लिए व्यग्र रहते हैं वे क्षुद्र संसारी जीव होते हैं। अतः श्री धर्म जिनकी उक्त परिणति उनकी उत्कृष्ट वीतरागताकी द्योतक है।

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो
नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो
धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ--हे धीर! प्रत्यक्षज्ञानी आपके काय, वचन और मनकी प्रवृत्तियाँ कुछ करनेकी इच्छासे नहीं हुईं। तथा यथार्थ वस्तु स्वरूपको न जानकर भी आपकी प्रवृत्तियाँ नहीं हुईं। इस प्रकार आपका चरित्र अचिन्त्य है।

विशेषार्थ—यहाँ इस बातपर विचार किया गया है कि जब तीर्थंकरको न उपदेश देनेकी इच्छा होती है और न उपदेशके फलकी इच्छा होती है तो उनकी विहार, दिव्यध्वनि आदि प्रवृत्तियाँ कैसे होती हैं। विहार करना यह कायकी प्रवृत्ति है, दिव्यध्वनि द्वारा हितोपदेश देना यह वचनकी प्रवृत्ति है और वस्तु स्वरूपका चिन्तन करना यह मनकी प्रवृत्ति है। भगवान्‌की ये सब प्रवृत्तियाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुछ करनेकी इच्छासे नहीं होती हैं, किन्तु बिना इच्छाके ही होती हैं। क्योंकि इच्छाको उत्पन्न करनेवाला मोहनीय कर्म पहले ही नष्ट हो चुका है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि यदि तीर्थंकरकी प्रवृत्तियाँ बिना इच्छाके होती हैं तो उनमें असमीक्ष्यकारित्वका दोष आता है और अविचारित होनेसे उनकी प्रवृत्तियोंको प्रशस्त नहीं कहा जा सकता है। इस शंकाका उत्तर यह है कि श्री धर्म जिनकी प्रवृत्तियाँ अविचारित नहीं हैं, किन्तु सुविचारित ही हैं। उनकी सब प्रवृत्तियाँ वस्तु स्वरूपका पूर्णरूपसे विचार करके ही होती हैं। मुख्य बात यह है कि श्री धर्म जिनका चरित्र ही अचिन्त्य है। उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि तीर्थंकरकी सब प्रवृत्तियाँ तीर्थंकर नाम कर्मके उदयसे तथा भव्य जीवोंके नियोगसे स्वतः ही होती हैं। अतः उनकी प्रवृत्तियोंमें असमीक्ष्यकारित्वका दोष संभव नहीं है।

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्
देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता
श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥ ५ ॥ (७५)

सामान्यार्थ—हे नाथ! आप मानुष स्वभावको अतिक्रान्त कर गये हैं और देवताओंमें भी देवता हैं। इसलिए आप परम देवता हैं। अतः हे धर्म जिन! आप हमारे कल्याणके लिए प्रसन्न हों।

विशेषार्थ—श्री धर्म जिन मनुष्य गतिमें उत्पन्न होनेके कारण मनुष्य थे। किन्तु वे साधारण मनुष्य नहीं थे, असाधारण मनुष्य थे। उनका शरीर पसीनासे रहित था, मल-मूत्रसे रहित था और दूधके समान सफेद रुधिरसे युक्त था। इस प्रकार वे मानव स्वभावको अतिक्रान्त कर गए थे। इतना ही नहीं, वे हरि, हर आदि अथवा इन्द्र, चन्द्र आदि देवताओंमें भी देवता (पूज्य) थे। देवताओंके भी देवता होनेके कारण वे परम देवता (पूज्यतम देवता) थे। ऐसे हे धर्म जिन! आप हमारे कल्याणके लिए प्रसन्न होवें।

यहाँ विचारणीय यह है कि स्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि भगवान् किसीकी स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होते हैं। फिर उन्होंने यह कैसे कहा कि आप हमारे ऊपर प्रसन्न होइये। यथार्थमें स्तुतिकारने यहाँ अलंकृत भाषामें अपनी भावना प्रकट की है। स्तुतिकारकी भावना यह है कि हम परम वीतराग श्री धर्म जिनकी प्रसन्न मनसे आराधना करें तथा ऐसा करते हुए उनके साथ तन्मयताको प्राप्त करें। और इसके फलस्वरूप मोक्षमार्ग पर चलकर अपना कल्याण करनेमें समर्थ होवें।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१६) श्री शान्ति जिन स्तवन

विधाय रक्षां परतः प्रजानां
राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।
व्यधात् पुरस्तात् स्वत एव शान्ति-
र्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ।। १ ।।

सामान्यार्थ—जो शान्ति जिन शत्रुओंसे प्रजाजनोंकी रक्षा करके चिरकाल तक अनुपम पराक्रमी राजा हुए और फिर जिन्होंने स्वयं ही मुनि होकर दया-मूर्तिकी तरह पापोंकी शान्ति की ।

विशेषार्थ—सोलहवें तीर्थंकरका नाम शान्तिनाथ है। यहाँ शान्तिनाथ भगवान्की राज्य अवस्था और मुनि अवस्थाका वर्णन किया गया है। श्री शान्ति जिन अनुपम पराक्रमके धारक चक्रवर्ती राजा थे। राज्य अवस्थामें उन्होंने चिर-काल तक शत्रुओंसे अपने प्रजाजनोंकी रक्षा की थी। वे साधारण राजा नहीं थे किन्तु परम प्रतापी राजा थे। वे आवश्यकतानुसार शत्रुओंसे घोर युद्ध करनेमें भी समर्थ थे। अतः उनकी प्रजा पूर्ण सुरक्षित थी।

चिरकाल तक राज्य करनेके बाद श्री शान्ति जिन किसीके उपदेशके बिना स्वयं ही संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर मुनि हो गये थे। उस समय वे अपनी दयालुवृत्तिके कारण ऐसे मालूम पड़ते थे मानों दयाकी मूर्ति ही हों। जब वे मुनि हो गये तब उनके हिंसा आदि पाँच पाप स्वतः ही छूट गये थे। उनकी दयामूर्तिको देखकर अन्य जीवोंके भी हिंसादि पाप दूर हो गये थे। अतः यह कहा जा सकता है कि मुनि अवस्थामें उन्होंने अपने तथा प्रजाजनोंके पापोंका उपशमन किया था। इस प्रकार श्री शान्ति जिनने राज्यावस्थामें शत्रुओं पर विजय प्राप्त की तथा मुनि अवस्थामें पापों पर विजय प्राप्त की थी।

चक्रेण यः शत्रुभयङ्करेण
जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय
महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ।। २ ।।

सामान्यार्थ—जो शान्ति जिन शत्रुओंके लिए भय उत्पन्न करनेवाले सुद-र्शनचक्रसे सम्पूर्ण राजाओंके समूहको जीत कर चक्रवर्ती राजा हुए और बादमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानरूप चक्रसे दुर्जय मोहनीय कर्म समूहको जीत कर जो महान् उदयको प्राप्त हुए थे।

विशेषार्थ--श्री शान्ति जिन तीर्थंकर होनेके साथ पञ्चम चक्रवर्ती भी थे। चक्रवर्ती होनेके फलस्वरूप उनके पास सुदर्शनचक्र था। यह चक्र शत्रुओंके लिए भय उत्पन्न करनेवाला था। इस कारण अधिक से अधिक बलवान् शत्रु भी सुदर्शनचक्रके सामने टिक नहीं सकता था। श्री शान्ति जिनने इस सुदर्शनचक्रके द्वारा बत्तीस हजार राजाओंको जीत कर अपने अधीन किया था। इस प्रकार उन्होंने गृहस्थ अवस्थामें महान् अभ्युदयको प्राप्त किया था।

इसके पश्चात् जब वे दिगम्बर मुद्रा धारण कर मुनि हुए उस समय धर्म्य-ध्यान और शुक्लध्यानरूप चक्रके द्वारा मोहनीय कर्मको जीत लिया था। मोहनीय कर्मको जीतना सरल नहीं है, वह बड़ी कठिनाईसे जीता जाता है। मोहनीय कर्मकी मूल प्रकृति दो हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय की उत्तर प्रकृति तीन हैं और चारित्र मोहनीयकी उत्तर प्रकृति पच्चीस हैं। इस प्रकार उन्होंने मोहनीय कर्मकी मूल और उत्तर प्रकृतियोंको समाधिचक्रके द्वारा जीत लिया था। यहाँ मोहचक्र उपलक्षण है। इसके द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका भी ग्रहण करना चाहिए। उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि श्री शान्ति जिनने चार घातिया कर्मोंको जीत कर केवलज्ञानादि-रूप महान् अभ्युदयको प्राप्त किया था।

यहाँ 'समाधिचक्र' और 'मोहचक्र' शब्दों पर विशेष विचार कर लेना आव-श्यक है। समाधिचक्रसे तात्पर्य धर्म्य और शुक्ल इन दो ध्यानोंसे है। क्योंकि ये दोनों ध्यान मोक्षके हेतु होते हैं[1]। धर्म्यध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। यह धर्म्यध्यान अविरत, देशविरत, प्रमयसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है। अर्थात् उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी आरोहणके पहले धर्म्यध्यान होता है और श्रेणी आरोहणके समयसे शुक्लध्यान होता है। शुक्ल ध्यानके चार भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिर्वर्ति। इनमेंसे पहले दो ध्यान पूर्वविदों (चौदह पूर्वोंके ज्ञाताओं) के होते हैं[2] और अन्तके दो ध्यान केवलीके होते हैं[3]। प्रथम शुक्लध्यान उपशमश्रेणीके सब गुणस्थानोंमें और क्षपक श्रेणीके दसवें गुणस्थानमें होता है। और द्वितीय शुक्लध्यान बारहवें

१. परे मोक्षहेतू। —तत्त्वार्थसूत्र ९/२९
२. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। —तत्त्वार्थसूत्र ९/३७
३. परे केवलिनः। —तत्त्वार्थसूत्र ९/३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणस्थानमें होता है। तृतीय शुक्लध्यान सयोगकेवलीके और चतुर्थ शुक्लध्यान अयोगकेवलीके होता है।

मोहचक्रसे तात्पर्य मोहनीय कर्मकी मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंसे है। मोहनीय कर्मकी मूल प्रकृति दो हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहनीयके ३ भेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। चारित्रमोहनीयके २५ भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे १६ कषायवेदनीय होते हैं। तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषायवेदनीय हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी कुल २८ प्रकृतियाँ होती हैं।

राज्यश्रिया राजसु राजसिंहो
रराज यो राजसुभोगतन्त्रः।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो
देवासुरोदारसभे रराज ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—राजाओंमें श्रेष्ठ तथा राजाओंके योग्य उत्तम भोगोंके अधीन जो शान्ति जिन गृहस्थ अवस्थामें राजाओंके मध्यमें राज्यलक्ष्मीसे सुशोभित हुए थे, वे ही शान्ति जिन परम वीतराग अवस्थामें आत्माधीन होकर देव और असुरोंकी विशाल समवसरण सभामें आर्हन्त्य लक्ष्मीसे सुशोभित हुए थे।

विशेषार्थ—श्री शान्तिनाथ जिन राजाओंमें श्रेष्ठ राजा (चक्रवर्ती राजा) थे। तथा राजाओंके योग्य जो अच्छेसे अच्छे भोग हैं वे सब भोग उन्हें प्राप्त थे। 'राजसुभोगतन्त्र' शब्दका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि वे राजाओंके योग्य भोगोंके अधीन थे अथवा भोग उनके अधीन थे—वे अधिकसे अधिक भोगोंको प्राप्त करनेकी स्थितिमें थे। दोनों ही स्थितियोंका तात्पर्य यही है कि श्री शान्ति जिन सराग अवस्थामें आत्माधीन न होकर भोगाधीन थे। ऐसे शान्ति जिन अपने अधीन बत्तीस हजार राजाओंके बीचमें नौ निधि और चौदह रत्नोंके रूपमें प्राप्त राज्य लक्ष्मीसे सुशोभित हुए थे।

वे ही शान्ति जिन जब वीतराग अवस्थामें पहुँचकर शुक्लध्यानके द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश कर आत्मतन्त्र (आत्माधीन या स्वाधीन) हुए उस समय वे अर्हन्त अवस्थामें देवों और असुरोंकी विशाल समवसरण सभामें अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरंग और अष्टप्रातिहार्यादिरूप बहिरंग आर्हन्त्य लक्ष्मीसे सुशोभित हुए थे।

उपरि लिखित श्लोकमें आगत '**देवासुरोदारसभे**' शब्द विचारणीय है। भगवान्‌के समवसरणमें बारह सभायें होती हैं। उन सभाओंमें देव और असुरोंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतिरिक्त मनुष्य और तिर्यञ्च भी उपस्थित रहते हैं। तब समवसरण सभाको देव और असुरोंकी सभा क्यों कहा गया है। सम्भवतः यहाँ असुर शब्दका तात्पर्य अदेवसे है। सुरका अर्थ देव होता है। और असुरका अर्थ अदेव किया जा सकता है। अतः असुर (अदेव) शब्दके द्वारा मनुष्य और तिर्यंचोंका भी ग्रहण हो जाता है। अतः श्री शान्ति जिन देवों और मनुष्यादिकोंकी विशाल सभामें सुशोभित हुए थे, ऐसा अर्थ करनेमे किसी भी प्रकारकी विप्रति त्ति नहीं रहेगी।

यस्मिन्नभूद् राजनि राजचक्रं
मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम्।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम्॥ ४॥

सामान्यार्थ—जिन शान्ति जिनके राजा होने पर राजाओंका समूह बद्धाञ्जलि हुआ था, मुनि होने पर दयाकी किरणांवाला धर्मचक्र बद्धाञ्जलि हुआ था, पूज्य होने पर देवोका समूह बार-बार बद्धाञ्जलि हुआ था और ध्यानके सन्मुख होने पर क्षयको प्राप्त होता हुआ कर्मोंका समूह बद्धाञ्जलि हुआ था।

विशेषार्थ—जब श्री शान्ति जिन चक्रवर्ती राजा थे उस समय उनके अधीन समस्त राजाओंका समूह हाथ जोड़कर उनके आदेशकी प्रतीक्षामें खड़ा रहता था। जब राज्यको छोड़कर वे मुनि हो गये तब दयासे युक्त धर्मचक्र उनके अधीन हो गया। यहाँ धर्मचक्रका अर्थ है—चारित्र अथवा उत्तम क्षमादि धर्मोंका समूह। दया दीधितिका अर्थ है—दया ही हैं किरणें जिसकी अथवा दयाका है प्रकाश जिसमें। 'दया दीधिति' शब्द धर्मचक्रका विशेषण है। धर्मचक्रसे किरणें निकलती हैं। शान्ति जिनके धर्मचक्रसे दयाकी किरणें निकलती थीं अथवा धर्मचक्रमें दयाका प्रकाश व्याप्त था। ऐसा धर्मचक्र उनके अधीन हो गया था अर्थात् वे धर्ममय हो गये थे। यहाँ धर्मचक्रका एक अर्थ और है। जब शान्ति जिन चार घातिया कर्मोंका क्षय कर अर्हन्त हो गये तब उनके विहारके समय आगे-आगे चलनेवाला देवरचित धर्मचक्र उनके अधीन होकर ही गमन करता था।

जब शान्तिनाथ भगवान् पूज्य हुए अर्थात् समवसरणमें विराजमान होकर दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करने लगे तब चतुर्निकायके देवोंका समूह बार-बार हाथ जोड़कर उनकी वन्दना करता था। अन्तमें जब वे अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानमें व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानके सन्मुख हुए तब अघातिया कर्मोंका समूह नाशको प्राप्त होता हुआ हाथ जोड़कर उनके समक्ष खड़ा हो गया था। कृतान्तचक्रका एक अर्थ है-कर्मसमूह और दूसरा अर्थ है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मृत्युके राजा यमराजका चक्र। अतः हम कह सकते हैं कि उस समय नष्ट होता हुआ कर्मचक्र तथा यमराजका चक्र उनके अधीन हो गया था। अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करके श्री शान्ति जिनने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी। श्री शान्ति जिनकी ऐसी अद्‍भुत महिमा है।

स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः॥ ५॥ (८०)

सामान्यार्थ—जिन शान्तिनाथ भगवान्ने अपने दोषोंको शान्ति करके आत्मशान्तिको प्राप्त किया है और जो शरणागतोंके लिए शान्तिके विधाता हैं, वे भगवान् शान्ति जिन मेरे शरणभूत हैं। ऐसे श्री शान्ति जिन मेरे भवभ्रमणकी, क्लेशोंकी और भयोंकी उपशान्तिके लिए निमित्त होवें।

विशेषार्थ—श्री शान्ति जिनने पहले अपने राग, द्वेष. काम, क्रोध आदि विकारोंका नाश करके अनन्त सुखादिरूप आत्मशान्तिकी प्राप्ति की थी। ऐसा होने पर ही वे संसार समुद्रसे पार होनेके इच्छुक शरणमें आए हुए भव्य जीवोंके लिए शान्ति प्रदाता हुए थे। क्योंकि जबतक यह मानव अपने दोषोंका क्षय करके स्वयं शान्ति प्राप्त नहीं कर लेता तबतक वह दूसरोंके लिए शान्ति प्रदाता नहीं हो सकता है। कर्म शत्रुओंको जीतनेके कारण शान्तिनाथ जिन कहलाते हैं। विशिष्ट ज्ञानवान् अथवा इन्द्रादि द्वारा पूज्य होनेसे वे भगवान् हैं तथा शरणागतों-की रक्षा करनेमें निपुण हैं। ऐसे श्री शान्ति जिन मेरे भवपरिभ्रमणकी, भवभ्रमण-से उत्पन्न होनेवाले क्लेशोंकी और नाना प्रकारके भयोंकी उपशान्ति करें। यहाँ स्तुतिकार श्री शान्ति जिनसे यही कामना कर रहे हैं कि आपकी स्तुतिके फल-स्वरूप मैं संसारके जन्ममरणादि सम्बन्धी कष्टोंसे मुक्त होकर आपकी तरह ही आत्मशान्तिको प्राप्त करूँ।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि शान्तिनाथ भगवान् किसी इच्छा या प्रयत्नके बिना ही शरणागतोंके लिए शान्तिके विधाता होते हैं। जिसप्रकार अग्निके पास जानेसे उष्णताका और हिमालयके पास जानेसे शीतका अनुभव स्वयं होता है, उसी प्रकार श्री शान्ति जिनकी शरणमें जानेवाले भव्य जीवोंको स्वयं ही शान्ति प्राप्त होती है। वे तो शान्ति प्राप्त होनेके निमित्त मात्र हैं। जो भी भव्य जीव श्रद्धा-पूर्वक उनकी शरणमें जाता है उसे शान्तिकी प्राप्ति अवश्य होती है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१७) श्री कुन्थु जिन स्तवन

कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः
कुन्थुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै ।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै
भूत्वा पुरः क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः ।। १ ।।

सामान्यार्थ—हे कुन्थु जिन ! कुन्थु आदि समस्त प्राणियों पर दयाका अनन्त विस्तार करनेवाले आपने पहले राज्यलक्ष्मीके लिए राजाओंके स्वामी चक्रवर्ती राजा होकर बादमें ज्वरादि रोग, जरा और मरणकी उपशान्तिरूप मोक्ष लक्ष्मीके लिए इस लोकमें धर्मचक्रको प्रवर्तित किया था।

विशेषार्थ— सत्रहवें तीर्थंकरका नाम कुन्थुनाथ है। वे कुन्थु आदि समस्त प्राणियों पर पूर्ण दयाभाव रखते थे। कुन्थु एक सूक्ष्म प्राणी है। हिन्दीमें इसको तिरूला या चींटी कहते हैं। यह तीन इन्द्रिय प्राणी है। यद्यपि यहाँ कुन्थु प्रभृति शब्दका प्रयोग किया गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि श्री कुन्थु जिन एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवों पर दयाका अनन्त विस्तार करते थे। श्री कुन्थु जिन चक्रवर्ती राजा थे। उन्होंने गृहस्थावस्थामें राज्यलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए सुदर्शन चक्रको प्रवर्तित किया था और ऐसा करके वे अनेक राजाओंके स्वामी बनकर चक्रवर्ती सम्राट् हुए थे।

इसके पश्चात् उन्होंने वीतराग अवस्थामें मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए धर्म-चक्रका प्रवर्तन किया था। धर्मचक्र उत्तमक्षमादिरूप अथवा सम्यग्दर्शनादिरूप होता है। अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त करके श्री कुन्थु जिनने भव्य जीवोंके लिए जो उपदेश दिया था उसका आचरण करनेसे ज्वरादि समस्त रोगोंका, जराका और मरणका नाश हो जाता है और ऐसी स्थितिमें मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति अवश्यंभावी है। इस प्रकार श्री कुन्थु जिनने धर्मका आचरण करके स्वयं मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त किया तथा अन्य भव्य जीवोंको भी मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त करनेका उपाय बतला दिया।

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ।। २ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्यार्थ—तृष्णारूप अग्निकी ज्वालायें संसारी जीवको चारों ओरसे जलाती हैं। अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंके वैभवसे इनकी शान्ति नहीं होती है, किन्तु सब ओरसे वृद्धि ही होती है। क्योंकि इन्द्रिय-विषयोंका स्वभाव ही ऐसा है। इन्द्रिय-विषय शरीरके संतापको दूर करनेमें निमित्त मात्र हैं। ऐसा जानकर श्री कुन्थु जिन विषय-सौख्यसे परान्मुख हो गये थे।

विशेषार्थ—श्री कुन्थु जिनने चक्रवर्तीके राज्यवैभवको छोड़कर दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली थी। क्योंकि उन्होंने इस बातको अच्छी तरहसे समझ लिया था कि तृष्णा (भोगाकांक्षा) संसारी जीवको सदा संतप्त करती रहती है। तृष्णा अग्निके समान है। तृष्णारूप अग्निकी ज्वालायें इस जीवको सदा सब ओरसे जलाती रहती हैं। अपने अनुकूल इन्द्रिय विषयोंका अधिकसे अधिक वैभव या प्रचुर परिणाममें संग्रहसे भोगाकांक्षाकी शान्ति न होकर उल्टी वृद्धि ही होती है। जिसप्रकार ईन्धनसे अग्निकी शान्ति न होकर वृद्धि ही होती है, उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयोंके संग्रहसे तृष्णाकी शान्तिके स्थानमें अधिकाधिक वृद्धि ही होतीं हैं। इसका कारण यह है कि इन्द्रिय-विषयोंका ऐसा ही स्वभाव है जो तृष्णाकी अभिवृद्धि ही करता है। अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे कुछ समयके लिए शरीरका संताप तो दूर हो सकता है किन्तु मानसिक संताप दूर नहीं होता है। अतः इन्द्रिय-विषय शरीरके संतापको दूर करनेमें निमित्त-मात्र हैं, वे तृष्णाकी उपशान्ति करनेवाले नहीं हैं। श्री कुन्थु जिन इन्द्रिय विजेता थे। अतः वे इन्द्रिय-विषयोंके स्वरूपको जानकर इन्द्रिय-विषयजन्य सुखसे विमुख हो गये थे। यही कारण है कि उन्होंने चक्रवर्तीके वैभवको छोड़कर आत्मविकास करनेके लिए जिन दीक्षा धारण करली थी।

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे कुन्थु जिन ! आप आध्यात्मिक तपकी परिवृद्धिके लिए अत्यन्त कठिन बाह्य तपका आचरण करते हुए आर्त्त-रौद्ररूप दो कलुषित ध्यानोंको छोड़कर उत्तरवर्ती धर्म्य और शुक्ल इन दो सातिशय ध्यानोंमें प्रवृत्त हुए थे।

विशेषार्थ—तपके दो भेद हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। इन तपोंका आचरण करनेसे कर्मोंका संवर और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्जरा होती है। श्री कुन्थु जिनने आभ्यन्तर तपकी परिवृद्धिके लिए अत्यन्त कठिन अनशनादि बाह्य तपोंका आचरण किया था। बाह्य तपोंके आचरणसे अन्तरंग तपोंकी सब प्रकारसे वृद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि श्री कुन्थु जिन बाह्य और अन्तरंग दोनों तपोंका आचरण करते हुए संवर और निर्जराके मार्गमें प्रवृत्त हुए थे।

आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे ध्यानके चार भेद हैं। इनमेंसे प्रारम्भके दो ध्यान संसारके कारण होनेसे अप्रशस्त ध्यान कहलाते हैं। अतएव ये दोनों ध्यान त्याज्य हैं। धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्षके कारण[1] होनेसे प्रशस्त ध्यान हैं। इसलिए ये दोनों ध्यान उपादेय हैं। यहाँ यह दृष्टव्य है कि धर्म्यध्यान परम्परासे मोक्षका कारण होता है और शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्षका कारण होता है। ये दोनों ही ध्यान अतिशयसे सम्पन्न हैं। इनका अतिशय यही है कि इनके द्वारा कर्मोकी निर्जरा और मोक्षकी प्राप्ति होती है। संस्कृतटीकाकारने अतिशयका अर्थ भेद भी किया है। धर्म्यध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार भेद हैं। शुक्ल ध्यानके पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये चार भेद हैं। श्री कुन्थु जिन मुनि अवस्थामें आर्त्त और रौद्र इन दो कलुषित ध्यानोंको छोड़कर धर्म्य और शुक्ल इन सातिशय दो ध्यानोंमें प्रवृत्त हुए थे।

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो
रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः।
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता
व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे भगवन्! अपने कर्मोंकी चार कटुक प्रकृतियोंको रत्नत्रयरूप सातिशय अग्निमें होमकर शक्ति सम्पन्न तथा सम्पूर्ण आगमके प्रणेता आप इस प्रकार शोभायमान हुए थे जिस प्रकार निरभ्र आकाशमें दैदीप्यमान किरणोंसे युक्त सूर्य शोभित होता है।

विशेषार्थ—सातिशय ध्यान करते हुए श्री कुन्थु जिन ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंको रत्नत्रयरूप सातिशय अग्निमें भस्म कर दिया था। बारहवें गुणस्थानके अन्तमें मोहनीय और तेरहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होता है। चार घातिया कर्मोंकी प्रकृतियाँ कटुक (कड़वी) हैं, क्योंकि इनके द्वारा आत्माके अनन्तज्ञानादि स्वाभाविक गुणोंका घात (आच्छादन) होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

१. परे मोक्षहेतू।—तत्त्वार्थसूत्र ९/२९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रयका स्वभाव कर्मोंके दहन करनेका है। यहाँ रत्नत्रयके प्रकर्ष (अतिशय) को तेज (अग्नि) कहा गया है। अतः प्रकर्षको प्राप्त रत्नत्रयरूप अग्निमें चार घातिया कर्म भस्म हो जाते हैं। और चार घातिया कर्मोंका नाश हो जाने पर भगवान् अनन्तवीर्य सम्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् अनन्तज्ञानादि अनन्तचतुष्टयसे सम्पन्न होकर अर्हन्त हो जाते हैं।

अर्हन्त अवस्थामें भगवान् समवसरणमें विराजमान होकर दिव्यध्वनि द्वारा जीवादि तत्त्वोंका निरूपण करते हैं और इसीके आधार पर चार ज्ञानके धारी गणधर द्वादशांगरूप परमागमकी रचना करते है। अतः परमागमके मूलकर्ता भगवान् ही कहे जाते हैं। श्री कुन्थु जिन सकलवेदविधिके विधाता हैं। सकल लोक और अलोकके परिज्ञानको वेद कहते हैं। और ऐसे वेदका विधान (प्रणयन) श्री कुन्थु जिनके द्वारा हुआ है। जातवीर्य (शक्तिसम्पन्न) और सकलवेदविधि के प्रणेता श्री कुन्थु जिन इस लोकमें उसी प्रकार शोभायमान हुए थे जिस प्रकार मेघ रहित आकाशमें चमकता हुआ सूर्य शोभित होता है।

यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या
विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति
तस्माद्भवन्तमजप्रतिमेयमार्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ॥ ५ ॥ (८५)

सामान्यार्थ—हे मुनीन्द्र ! यतः ब्रह्मा आदि लौकिक देवता आपकी विद्याकी और विभूतिकी एक कणिकाको भी प्राप्त नहीं करते हैं, इसलिए आत्महित साधनामें निमग्न और उत्तम बुद्धिके धारक गणधरादि देव पुनर्जन्मसे रहित, अपरिमित और स्तुतिके योग्य आपकी स्तुति करते हैं।

विशेषार्थ--श्री कुन्थु जिन गणधरादि मुनियोंके स्वामी होनेसे मुनीन्द्र कहलाते हैं। चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जाने पर केवलज्ञानरूप विद्या और समवसरणादिरूप विभूति (लक्ष्मी) उनको प्राप्त हो जाती है। इस लोकमें पितामह (ब्रह्मा) विष्णु, महेश, कपिल, सुगत, जैमिनो आदि अनेक लौकिक देवता हैं। ये सब देवता भगवान् कुन्थु नाथकी विद्या और विभूतिके एक कणको भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। इसका कारण यही है कि उनमें रागादि दोष विद्यमान हैं और उनके कर्मोंका क्षय नहीं हुआ है। न तो वे वीतराग हैं और न सर्वज्ञ हैं।

अतः जो आत्मकल्याण करना चाहते हैं, जो मोक्षके आकांक्षी हैं और जो उत्तम बुद्धिके धारक हैं ऐसे आर्य जन (गणधरादि) श्री कुन्थु जिनकी स्तुति करते हैं। क्योंकि श्री कुन्थु जिन पुनर्जन्मसे रहित हैं, उनका यह अन्तिम जन्म है, अनन्तज्ञानके धारक होनेसे अपरिमित हैं और शत इन्द्रों द्वारा पूज्य होनेके कारण स्तुत्य हैं। ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१८) श्री अर जिन स्तवन

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ।। १ ।।

सामान्यार्थ—हे अर जिन ! विद्यमान गुणोंकी अल्पताका उल्लंघन करके उनके बहुत्व (अधिकता) का कथन करना स्तुति कहलाती है । वह स्तुति आपमें किस प्रकार संभव है । क्योंकि आपमें अनन्त गुण होनेके कारण आपके समस्त गुणोंका कथन करना संभव नहीं है ।

विशेषार्थ—किसी व्यक्तिमें अल्प गुण विद्यमान हैं । कोई स्तुतिकर्ता विद्य-मान गुणोंकी अल्पता पर कोई ध्यान न देकर उन गुणोंको बढ़ा-चढ़ा कर कहने लगता है । किसी व्यक्तिमें केवल एक गुण विद्यमान है । किन्तु स्तुति करनेवाला इस प्रकार बढ़ा चढ़ा कर कथन करता है जैसे उसमें सौ या हजार गुण विद्यमान हों । लोकमें इसका नाम स्तुति है ।

श्री अर जिनके विषयमें इस प्रकार की स्तुति सम्भव नहीं है । क्योंकि उनमें अनन्त गुण विद्यमान हैं और उन अनन्त गुणोंका कथन किसी भी प्रकार सभव नहीं है । जब कोई स्तुति कर्ता उनके पूरे गुणोंका कथन कर ही नहीं सकता है तब उन्हें बढ़ा चढ़ा कर कहनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है । श्री अर जिनकी इस प्रकार की स्तुति किस प्रकार सम्भव है । अर्थात् उनकी ऐसी स्तुति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है ।

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ।। २ ।।

सामान्यार्थ—हे अर जिन ! यद्यपि आपके समस्त गुणोंका कथन करना अशक्य है, फिर भी आप पुण्यकीर्ति मुनीन्द्रका नामकीर्तन भी यतः हमें पवित्र करता है, इसलिए हम आपके गुणोंका कुछ कथन करते हैं ।

विशेषार्थ—श्री अर जिन गणधरादि मुनियोंके स्वामी होनेके कारण मुनीन्द्र हैं । वे पुण्यकीर्ति हैं । कीर्ति शब्द वाणी, ख्याति और स्तुति इन तीन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है । और पुण्य शब्द पवित्रके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । अतः जिनकी वाणी पवित्र है, ख्याति पवित्र है और पुण्योत्पादक होनेसे स्तुति पवित्र है उन्हें पुण्यकीर्ति कहते हैं । ऐसे श्री अर जिनके समस्त गुणोंका कथन तो अशक्य ही है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर भी श्रद्धापूर्वक उनके नामका उच्चारण या स्मरण भी हमें पवित्र करता है। तात्पर्य यह है कि उनके अनन्त गुणोंका कथन करना सम्भव नहीं है तो इससे हमारी कोई हानि नहीं होती है। उनके अनन्त गुणोंमेंसे एक या दो गुणोंका कथन तो हम कर ही सकते हैं। यह भी सम्भव न हो तो हम भक्तिपूर्वक उनका नाम-कीर्तन या स्मरण तो कर ही सकते हैं और वह नामकीर्तन भी हमारा कल्याण कर सकता है। इसलिए स्तुतिकार आगे श्री अर जिनके गुणोंका लेशमात्र कथन कर रहे हैं।

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ।। ३ ।।

सामान्यार्थ—लक्ष्मीके वैभवरूप सवस्वसे सम्पन्न तथा सुदर्शनचक्र सहित जो सार्वभौम साम्राज्य आपको प्राप्त था वह मुमुक्षु होने पर आपके लिए जीर्ण तृणके समान हो गया।

विशेषार्थ—श्री अर जिन चक्रवर्ती सम्राट् थे। इस कारण उनका साम्राज्य सार्वभौम था। भरत क्षेत्रके छह खण्डों पर उनका आधिपत्य था। नौ निधियों और चौदह रत्नोंसे युक्त महती लक्ष्मीका वैभव उस सार्वभौम साम्राज्यका सर्वस्व था और देवोपनीत सुदर्शनचक्र उनके साम्राज्यका चिह्न था। राज्यावस्थामें श्री अर जिनका ऐसा विशाल साम्रज्य था। किन्तु जब वे मुमुक्षु हुए तब उन्हें उक्त विशाल साम्राज्य जीर्ण तृणके समान मालूम पड़ने लगा। मुमुक्षुका अर्थ है—मोक्षके इच्छुक अथवा सर्वपरिग्रहत्यागके इच्छुक। अतः जब श्री अर जिन संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त हो गये तब उन्होंने विशाल साम्राज्यको जीर्ण तृणके समान छोड़ दिया।

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्वयक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ।। ४ ।।

सामान्यार्थ—आपके रूपके सौन्दर्यको देखकर दो नेत्रोंका धारक इन्द्र तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए वह बहुत आश्चर्यको प्राप्त होता हुआ हजार नेत्रोंका धारक हो गया।

विशेषार्थ—श्री अर जिन तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव थे। कामदेव होनेके कारण उनके शरीरका सौन्दर्य अद्भुत था। जन्म कल्याणकके समय जब इन्द्राणी बालक अर जिनको प्रसूति गृहसे बाहर लाकर जन्माभिषेकके लिए सुमेरु पर्वतपर ले जानेके लिए सौधर्म इन्द्रको सोंपने लगी तब सौधर्म इन्द्र कामदेव अर जिनकी सुन्दरताको देखकर आश्चर्यचकित हो गया। दो नेत्रोंसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर जिनके अद्‌भुत सौन्दर्यको देखकर इन्द्रको सन्तोष ही नहीं हो रहा था। तब उसने विक्रिया द्वारा अपने हजार नेत्र बना लिए। किन्तु वह हजार नेत्रों द्वारा श्री अर जिनके रूप-सौन्दर्यका अवलोकन करता हुआ भी अतृप्त ही रहा।

यहाँ शक्र शब्दसे सौधर्म इन्द्रका ग्रहण करना चाहिए। जन्मकल्याणकके समय सौधर्म इन्द्र अन्य इन्द्र तथा देवोंके साथ भगवान्‌के जन्मकल्याणकका उत्सव मनानेके लिए यहाँ आता है। उस समय सौधर्म इन्द्रकी इन्द्राणी प्रसूति गृहमें जाती है और वहाँसे बालकरूप भगवान्‌को उठाकर तथा बाहर लाकर सौधर्म इन्द्रको सौंप देती है, जिससे वह भगवान्‌को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशोंसे उनका अभिषेक कर सके। उस समय प्रथम बार भगवान्‌के रूप-सौन्दर्यको देखकर सौधर्म इन्द्र तृप्त नहीं होता है। तब वह विक्रियाके द्वारा अपने हजार नेत्र बनाकर भगवान्‌का अवलोकन करता है, फिर भी वह अतृप्त ही रहता है। ऐसा था श्री अर जिनका रूप-सौन्दर्य।

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसंविदुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर पराजितः॥ ५॥

सामान्यार्थ—हे धीर! कषायरूप योद्धाओंकी सेनासे युक्त जो मोहरूप पापी शत्रु है उसे आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्ररूप अस्त्रोंसे पराजित कर दिया है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंमें मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। यह जीवका पापरूप शत्रु है। कर्मोंकी प्रकृतियाँ दो प्रकारकी होती हैं—पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृति। पुण्य प्रकृति प्रशस्त होती है और पाप प्रकृति अप्रशस्त होती है। तीर्थंकर नाम कर्मके उदयसे होनेवाली तीर्थंकर प्रकृति प्रशस्त है। किन्तु मोहनीय कर्मकी समस्त अट्‌ठाईस प्रकृतियाँ पापरूप हैं। मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव आतम स्वरूपको भूलकर शरीरको ही आत्मा समझने लगता है। इसलिए यह मोह आत्माका अहित करनेके कारण सबसे बड़ा शत्रु है। इसे जीतना सरल नहीं है। क्योंकि इसके पास कषायरूप योद्धाओंकी प्रबल सेना है। क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषायके चार भेद हैं। ये ही चार कषायें अनन्तानुबन्धी आदिके भेदसे सोलह प्रकार की हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त हास्य, रति अरति आदि नौ नोकषाय भी हैं। इस प्रकार कुल पच्चीस कषायें मोहनीय कर्मकी अजेय सेना है। श्री अर जिनने ऐसे प्रबल शत्रुको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञाम और सम्यक्‌चारित्रके द्वारा जीत लिया है। यहाँ मोह शब्द उपलक्षण है। अतः मोह शब्दके द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तरायका भी ग्रहण करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि श्री अर जिन रत्नत्रयके द्वारा चार घातिया कर्मोंका क्षय करके अर्हन्त हो गये थे।

उपलब्ध प्रतियोंमें इस श्लोककी द्वितीय पंक्तिमें 'दृष्टिसंपदुपेक्षा' ऐसा पाठ है। किन्तु यहाँ 'संपद' के स्थानमें 'संविद्' शब्द ठीक प्रतीत होता है। संविद्का अर्थ सम्यग्ज्ञान होता है तथा संपद्का सामान्य अर्थ सम्पत्ति होता है। कोई व्यक्ति संपद्का विशेष अर्थ सम्यग्ज्ञान भी कर सकता है। फिर भी शब्द प्रयोग ऐसा होना चाहिए जिससे सरलतापूर्वक शब्द बोध हो सके। श्री वीर जिन स्तवनके अन्तिम पद्यमें सम्पत्तिके अर्थमें संपद् शब्दका प्रयोग देखिए। अतः संपद्के स्थानमें संविद् शब्दका प्रयोग उचित प्रतीत होता है। श्री मुख्तार सा० ने संविद् शब्दका ही प्रयोग किया है।

कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ।। ६ ।।

सामान्यार्थ—हे अर जिन ! तीन लोकोंकी विजयसे उत्पन्न कामदेवके उत्कट दर्प (अहंकार) ने कामदेवको लज्जित कर दिया था। क्योंकि धीर-वीर आपके समक्ष कामदेवका उदय (प्रभाव) नष्ट हो गया था।

विशेषार्थ—तीन लोकोंमें कामदेवका बड़ा भारी प्रभाव है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो कामदेवके प्रभावसे बचा हो। कामदेव इतना शक्तिशाली है कि उसने तीनों लोकोंके प्राणियों पर विजय प्राप्त कर ली है। इस विजयसे कामदेवको बड़ा भारी अहंकार उत्पन्न हो गया है कि संसारके समस्त प्राणी मेरे अधीन हैं।

श्री अर जिन परम धीर वीर हैं। अतः कामदेव उनके चित्तमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सका। प्रत्युत श्री अर जिनके समक्ष त्रैलोक्य-विजयसे अर्जित कामदेव का उत्कट दर्प चूर-चूर हो गया। इस प्रकार कामदेवको लज्जित होना पड़ा और एक प्रकारसे उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। इसका तात्पर्य यही है कि श्री अर जिन पूर्ण कामविजयी थे।

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्दुरुत्तरा ।
तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ।। ७ ।।

सामान्यार्थ—पर लोक तथा इस लोकमें जो दुःखोंकी योनि है और जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है ऐसी तृष्णारूप नदीको आपने निर्दोष ज्ञानरूप नौकासे पार कर लिया है।

विशेषार्थ—तृष्णा एक नदीके समान है। पानीसे भरी हुई नदीको पार करना बहुत कठिन है। इसी प्रकार तृष्णा-नदीको भी पार करना अत्यन्त कठिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। साधारण प्राणी तृष्णा-नदीको पार नहीं कर सकता है। धीर वीर व्यक्ति ही इसको पार कर सकता है। भोगोंकी आकांक्षाको तृष्णा कहते हैं। भोगोंकी आकांक्षा कभी घटती नहीं है, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। तृष्णा इस लोक तथा पर लोक दोनों ही लोकोंमें दुःखोंकी उत्पत्तिका कारण है। संसारी प्राणी भोगाकांक्षाकी पूर्तिके लिए रात-दिन विभिन्न प्रकारके कष्ट उठाता रहता है। विषय भोगोंमें निमग्न होकर वह अपना विवेक भी खो देता है। ऐसी अवस्थामें उसे जो अशुभ कर्मबन्ध होता है उसके कारण उसे पर लोकमें निगोद, नरक, तिर्यंच आदि पर्यायोंमें नाना प्रकारके दुःखोंको भोगना पड़ता है।

अतः दुःखयोनि और दुरुत्तरा तृष्णा-नदीको निर्दोष विद्यारूप नौकाके द्वारा ही पार किया जा सकता है। निर्दोष विद्याका अर्थ है—सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञानके हो जाने पर भव्य जीव सोचता है कि भोगाकांक्षाकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती है और विषयोंके सेवनसे निराकुल सुखकी प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती है। निराकुल सुख तो आत्माका स्वभाव है। अतः भोगोंसे चित्तको हटाकर आत्म-स्वरूपमें लीन होना चाहिए। तभी निराकुल सुखकी प्राप्ति होगी। श्री अर जिनने तृष्णा-नदीको पार करके निराकुल सुख या अनन्त सुखको प्राप्त किया था।

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसखः सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः॥ ८॥

सामान्यार्थ—पुनर्जन्म तथा ज्वर आदि रोगोंका मित्र अन्तक (यम) सदा मनुष्योंको रुलानेवाला है। किन्तु यमका अन्त करनेवाले आपको प्राप्त कर यम अपनी इच्छानुसार प्रवृत्तिसे उपरत हुआ है।

विशेषार्थ—आयु कर्मकी समाप्ति हो जाने पर संसारी जीवकी वर्तमान पर्यायका जो नाश हो जाता है उसे मृत्यु या अन्तक कहते हैं। अन्तक, यम, मृत्यु और मरण ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। यम पुनर्जन्म तथा ज्वर आदि रोगोंका मित्र है। मृत्यु हो जाने पर यह जीव निश्चितरूपसे नवीन पर्यायको धारण करता है। यही पुनर्जन्म है। मनुष्यादि प्रत्येक पर्यायमें ज्वर, यक्ष्मा आदि नाना प्रकारके रोगोंसे यह जीव सदा पीड़ित रहता है। अतः यमको पुनर्जन्म तथा ज्वरादि रोगोंका मित्र कहा गया है। यह यम स्त्री, पुत्रादि इष्टजनोंकी वर्तमान पर्यायके नाशका कारण होनेसे मनुष्यको सदा रुलाता रहता है। जब किसी इष्ट जनकी मृत्यु हो जाती है तब वह करुण क्रन्दन करता है। उसे सदा अपनी मृत्युका भी भय बना रहता है।

श्री अर जिन यमका अन्त करनेवाले हैं और समस्त कर्मोंका क्षय करके अजर, अमर और अविनाशी पदको प्राप्त करनेवाले हैं। यह मनुष्य पर्याय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनकी अन्तिम पर्याय है। वर्तमान पर्यायके बाद अब उनका पुनर्जन्म नहीं होना है। अतः जो यम संसारी प्राणियोंके प्रति अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वही यम श्री अर जिनके प्रति अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्तिसे निवृत्त हो गया है। क्योंकि वे अन्तक (यम) का अन्त करनेवाले हैं। लोकमें यमको मृत्युका देवता भी कहा जाता है। श्री अर जिन मृत्युके देवता पर विजय प्राप्त करके अजर-अमर हो गये हैं।

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम्।
रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम्॥ ९॥

सामान्यार्थ—हे धीर! आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका परित्याग करनेवाला और विद्या, दम तथा दयामें तत्पर आपका रूप ही इस बातको बतलाता है कि आपने दोषोंका पूर्णरूपसे निग्रह किया है।

विशेषार्थ—संसारके समस्त प्राणी राग, द्वेष, मोह आदि दोषोंसे दूषित हैं तथा श्री अर जिन इन दोषोंसे रहित हैं। साधारण मानव तथा कुछ साधु भी अपने शरीरमें रागके कारण कटक, कुण्डल, हार आदि आभूषणोंको धारण कर शारीरिक शोभाको बढ़ाते हैं। वे अहंकारके कारण जटाजूट, रक्ताम्बर, पीताम्बर आदि नाना प्रकारके वेष धारण कर अपना महत्त्व प्रकट करते हैं तथा भयके कारण गदा, धनुष, असि आदि शस्त्र धारण कर दूसरोंको आतंकित करते हैं। किन्तु श्री अर जिनने रागरहित होनेके कारण समस्त आभूषणोंका त्याग कर दिया है, अहंकार रहित होनेके कारण समस्त वेषोंका त्याग कर दिया है और भयरहित होनेके कारण समस्त अस्त्र-शस्त्रोंका त्याग कर दिया है। इतना ही नहीं, वे दिगम्बर मुद्राको धारण करके विद्या, दम और दयामें तत्पर हो गये हैं। वे स्वाध्याय, धर्म्यध्यान आदिके द्वारा विद्या (सम्यग्ज्ञान) के विकासमें निरन्तर संलग्न रहते हैं। कषाय और इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना दम कहलाता है। मोह रहित होनेके कारण श्री अर जिनने कषायों तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण कर लिया है। ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति तथा विवेक पूर्वक की गई अन्य क्रियाओंके द्वारा उनमें जीव रक्षाका भाव स्पष्ट मालूम पड़ता है। अतः श्री अर जिनके भूषावेषायुधत्यागी तथा विद्यादमदयामें तत्पर ऐसे बाह्यरूप (आकार) को देखकर कोई भी विवेकी मानव सरलतापूर्वक यह समझ सकता है कि श्री अर जिनने राग, द्वेष, मोह आदि दोषों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है।

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा॥ १०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्यार्थ—सब ओर फैलनेवाले आपके शरीरके विशाल प्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ है और ध्यानरूप तेजके द्वारा आध्यात्मिक (अन्तरंग) अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ है।

विशेषार्थ—यहाँ श्री अर जिनके शारीरिक और आध्यात्मिक तेजको बतलाया गया है। उनका शरीर परमौदारिक शरीर है। उस शरीरसे तेजयुक्त किरणें निकलती रहती हैं। वे तेजयुक्त किरणें चारों ओर व्याप्त होकर विशाल प्रभामण्डलका रूप धारण कर लेती हैं। उस प्रभामण्डलके द्वारा उनके निकटवर्ती समस्त बाह्य अन्धकार नष्ट हो जाता है। श्री अर जिनने शुक्लध्यानरूप तेजके द्वारा अन्तरंग अन्धकारको भी नष्ट कर दिया है। आत्माके भीतर रहनेवाला अज्ञानान्धकार आध्यात्मिक या अन्तरंग अन्धकार कहलाता है। शुक्लध्यानके द्वारा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है और इस ज्ञानके द्वारा आत्मा ज्ञानमय (प्रकाशमय) हो जाता है। अतः श्री अर जिन बाह्य और आध्यात्मिक इन दोनों प्रकारके अन्धकारोंको दूर (नष्ट) करने वाले हैं।

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ सचेतनम् ॥ ११ ॥

सामान्यार्थ—हे नाथ! सर्वज्ञकी ज्योतिसे उत्पन्न हुआ आपकी महिमाका उदय किस सचेतन प्राणीको नम्रीभूत नहीं कर देता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जाने पर यह आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञका केवलज्ञानस्वरूप जो अनन्तज्ञान है वही सर्वज्ञ ज्योति है। इस ज्योतिसे अर्हन्त भगवान्‌का माहात्म्य बहुत बढ़ जाता है। जब श्री अर जिन समवसरणमें विराजमान होकर दिव्यध्वनिके द्वारा संसारके प्राणियोंके कल्याणके लिए हितोपदेश देते हैं तब समवसरण सभामें उपस्थित सभी जीवों पर भगवान्‌के केवलज्ञानका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उस समय गुण-दोषके विचारमें चतुर प्राणी भगवान्‌के माहात्म्यसे प्रभावित होकर नतमस्तक हो जाता है। श्री अर जिनका ऐसा माहात्म्य है कि अत्यधिक अहंकारी मनुष्य भी समवसरणमें पहुँचते ही अपने अहंकारको छोड़कर अत्यन्त विनम्र हो जाता है और भगवान्‌को साष्टांग प्रणाम करता है।

तव वागमृतं श्रीमत् सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि ॥ १२ ॥

सामान्यार्थ—हे भगवन्! सर्व भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावसे युक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा समवसरण सभामें व्याप्त होनेवाला आपका श्रीसम्पन्न वचनामृत प्राणियोंको अमृतके समान सन्तुष्ट करता है ।

विशेषार्थ—यहाँ भगवान्‌की दिव्यध्वनिका माहात्म्य बतलाया गया है । जब श्री अर जिन समवसरण सभाके मध्यमें विराजमान होकर धर्मोपदेश देते हैं उस समय चारों प्रकारके देव, विभिन्न प्रदेशोंके मनुष्य और तिर्यंच भी समवसरणमें उपस्थित रहते हैं । सबकी भाषा भिन्न-भिन्न होती है । किन्तु भगवान्‌की वाणीमें ऐसा अतिशय पाया जाता है कि जो श्रोता जिस भाषाका जानकार है उसी भाषामें उसका परिणमन हो जाता है । इस प्रकार सब श्रोता अपनी-अपनी भाषामें भगवान्‌की वाणीको समझ लेते हैं । समवसरणमें लाखोंकी संख्यामें भव्य जीव उपस्थित रहते हैं । उस वाणीका एक अतिशय यह भी है कि वह सम्पूर्ण समवसरण सभामें व्याप्त हो जाती है, जिससे वह सब श्रोताओंको सरलतासे सुनाई देती है । कोई श्रोता कितना भी दूर क्यों न बैठा हो उसे दिव्यध्वनिको सुनने कोई कठिनाई नहीं होती । वह वाणी समस्त पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका प्रतिपादन करती है । पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करना ही उसकी श्री (शोभा या लक्ष्मी) है । श्री अर जिनका ऐसा वचनामृत अनन्त सुखका कारण होनेसे समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार संतुष्टि प्रदान करता है जिस प्रकार अमृतपान करनेसे प्राणी परम आनन्दको प्राप्त होता है ।

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात् तदयुक्तं स्वघाततः ॥ १३ ॥

सामान्यार्थ—हे अर जिन ! आपकी अनेकान्तरूप दृष्टि सत्य है । इसके विपरीत जो एकान्तदृष्टि है वह शून्य (मिथ्या) है । अतः जो कथन अनेकान्त दृष्टिसे रहित है वह सब अपना घातक होनेसे मिथ्या है ।

विशेषार्थ—लोकमें दो प्रकारके मत दृष्टिगोचर होते हैं अनेकान्तदृष्टि सहित और एकान्तदृष्टि सहित । श्री अर जिनका जो मत है वह अनेकान्तदृष्टिको लिए हुए है । इसके विपरीत सांख्य, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक आदिका मत एकान्तदृष्टिको लिए हुए है । यहाँ इस बातपर विचार किया गया है कि इन दोनों दृष्टियोंमेंसे कौन दृष्टि सत्य है और कौन दृष्टि मिथ्या है ।

श्री अर जिनकी जो अनेकान्तदृष्टि है वह सत्य है । क्योंकि संसारके समस्त पदार्थ सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि अनन्तधर्मात्मक हैं । जो मत ऐसे अनेक (अनन्त) अन्तों (धर्मों) का एक ही वस्तुमें रहनेका प्रतिपादन करता वह अनेकान्तदृष्टि या अनेकान्तदर्शन है । अनेकान्तदर्शन बतलाता है कि एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही वस्तुमें परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले सत्-असत् आदि धर्म बिना किसी विरोधके एक साथ रहते हैं। क्योंकि वस्तुका स्वभाव ऐसा ही है।

इसके विपरीत सदेकान्त, असदेकान्त, नित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त आदि जो एकान्त दृष्टियाँ हैं वे सब मिथ्या हैं। क्योंकि पदार्थ न तो सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है, न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है। वह तो कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। अतः अनेकान्तदृष्टिसे रहित जो भी कथन है वह सब मिथ्या है। इसके साथ ही एकान्तदृष्टि सहित कथन अपना घात स्वयं ही करता है। इसका तात्पर्य यही है कि असत्की सत्ता स्वीकार किये बिना सत्की सिद्धि नहीं हो सकती है और क्षणिककी सत्ता स्वीकार किए बिना नित्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः असत्के अभावमें सत्का घात (नाश) हो जाता है। और क्षणिकके अभावमें नित्यका घात हो जाता है। इस प्रकार एकान्तदृष्टि स्वघाती है। उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि श्री अर जिनकी अनेकान्तदृष्टि ही समीचीन है और इसके अतिरिक्त अन्य समस्त एकान्तदृष्टियाँ असमीचीन हैं।

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलनाः।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ॥ १४ ॥

सामान्यार्थ—हे अर जिन! जो एकान्तवादी परके दोष देखनेमें जाग्रत रहते हैं और अपने दोषोंके विषयमें गज-निमीलनका व्यवहार करते हैं वे बेचारे क्या करें। क्योंकि वे आपके अनेकान्त मत की श्री (लक्ष्मी) के पात्र नहीं हैं।

विशेषार्थ—एकान्तवादी कहते हैं कि अनेकान्तदर्शनमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव ये आठ दोष आते हैं। सत् और असत्के एक साथ रहनेमें विरोध है, यह विरोध दोष है। सत्का अधिकरण दूसरा है और असत्का अधिकरण दूसरा है, यह वैयधिकरण्य दोष है। वस्तु जिस स्वरूपसे सत् है और जिस स्वरूपसे असत् है, उन दोनों स्वरूपोंमें भी सत्-असत्की कल्पना करनेसे अनवस्था दोष आता है। वस्तु जिस स्वरूपसे सत् है उसी स्वरूपसे सत् और असत् दोनों रूप हो जायेगी अथवा वह जिस स्वरूपसे असत् है उसी स्वरूपसे सत् और असत् दोनों रूप हो जायेगी, यह संकर दोष है। वस्तु जिस स्वरूपसे सत् है उस स्वरूपसे असत् हो जायेगी और जिस स्वरूपसे असत् है उस स्वरूपसे सत् हो जायेगी, यह व्यतिकर दोष है। वस्तुके सदसदात्मक होनेसे किसी एक असाधारण धर्मका निश्चय न होनेसे संशय दोष होता है। संशयके कारण वस्तुकी यथार्थ प्रतिपत्ति न होनेसे अप्रतिपत्ति दोष होता है। और वस्तुकी प्रतिपत्ति न होनेके कारण उसका अभाव हो जायेगा, यह अभाव दोष है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकान्तवादी अनेकान्तदर्शनमें उक्त प्रकारसे दोष दर्शन करनेमें सदा जाग्रत रहते हैं। इसके विपरीत एकान्तदर्शनमें कौन-कौन दोष आते हैं, इस विषयमें वे आँख बन्द करके गज-निमीलन जैसा व्यवहार करते हैं। हाथी मदोन्मत्त प्राणी है। वह जब मदमस्त होकर चलता है तब देखी हुई वस्तुको भी अनदेखी करता हुआ चला जाता है। इसी प्रकार एकान्तवादी एकान्तदर्शनमें अनेक दोषोंको देखता हुआ भी एकान्तवादरूप मिथ्या अभिनिवेशके कारण उन दोषोंको अनदेखा कर देता है। उन एकान्तवादियोंका परिहास करते हुए उनको यहाँ तपस्वी कहा गया है। वे तपस्वी (बेचारे) क्या कर सकते हैं। अर्थात् कुछ नहीं कर सकते हैं। वे न तो स्वपक्षका साधन कर सकते हैं और न परपक्षमें दूषण दे सकते हैं। ऐसे व्यक्ति अनेकान्तदर्शनकी श्री (शोभा या लक्ष्मी) के पात्र नहीं हैं।

यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि एकान्तवादियों द्वारा अनेकान्तदर्शनमें जो विरोध आदि दोष बतलाये गये हैं वे सब अविचारितरम्य हैं। वस्तु स्वरूपको बिना समझे ही वे दोष दिये गये हैं। जब वस्तु स्वरूपका सम्यक्रूपसे विचार किया जाता है तब वे दोष टिक नहीं पाते हैं। वस्तु जिस अपेक्षासे सत् है यदि उसी अपेक्षासे उसे असत् माना जाता तो विरोध दोषकी कल्पना करना ठीक हो सकता है। किन्तु वस्तु तो स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे सत् है तथा पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे असत् है। तब एक ही वस्तुमें सत् और असत्के रहनेमें विरोध कहाँ है। इस तरह विरोध दोषका परिहार हो जाता है। इसी प्रकार अन्य दोषोंका परिहार भी स्याद्वाद न्यायके द्वारा सरलतापूर्वक हो जाता है। अतः अनेकान्तदर्शन सर्वथा निर्दोष है।

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥

सामान्यार्थ—हे अर जिन ! वे एकान्तवादी पूर्वोक्त स्वघातित्व दोषको दूर करनेमें असमर्थ हैं, आपसे द्वेष रखने वाले हैं, आत्मघाती हैं और बाल हैं। इसी कारण उन्होंने तत्त्वकी अवक्तव्यताका आश्रय लिया है।

विशेषार्थ—पहले बतलाया गया है कि एकान्तदृष्टि स्वघाती है। असत्की सत्ता स्वीकार न करनेवाली एकान्तदृष्टि सत्की सत्ता भी सिद्ध नहीं कर सकती है। इस कारण वह स्वघाती है। और वे एकान्तवादी स्वघातित्व दोषको दूर करनेमें किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हैं। यतः वे श्री अर जिनके अनेकान्तदर्शनसे द्वेष रखते हैं, अतः वे आत्मघाती हैं—अपने मतका घात स्वयं अपने हाथोंसे करते हैं। क्योंकि अनेकान्तवादका आश्रय लिए बिना उनका एकान्तवाद स्वतः समाप्त हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। उनके स्वघाती होनेका कारण भी यह है कि वे बाल हैं, अज्ञानी हैं तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते हैं।

इन एकान्तवादियोंमेंसे कुछ एकान्तवादी ऐसे हैं जो कहते हैं कि वचनोंके द्वारा वस्तुका कथन हो ही नहीं सकता है। अर्थात् वस्तु सर्वथा अवक्तव्य है, वचनोंके अगोचर है। यह अवक्तव्यैकान्त भी अन्य एकान्तोंकी तरह मिथ्या है। यथार्थ स्थिति यह है कि वस्तु न तो सर्वथा वक्तव्य है और न सर्वथा अवक्तव्य है। वह तो कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य है। यदि कोई वक्ता वस्तुके समस्त धर्मोंका एक साथ कथन करना चाहता है तो ऐसा करना संभव नहीं है। अतः वस्तु अवक्तव्य है। किन्तु जब वही वक्ता स्याद्वाद न्यायका आश्रय लेकर क्रमशः वस्तुके एक-एक धर्मका प्रतिपादन करता है तो वही वस्तु वक्तव्य हो जाती है।

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥ १६ ॥

सामान्यार्थ—सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य और अवक्तव्य ये जो नय हैं वे यहाँ सर्वथारूपसे वस्तुतत्त्वको प्रदूषित करते हैं और कथंचित्‌रूपसे वस्तुतत्त्वको पुष्ट करते हैं।

विशेषार्थ—वक्ताके अभिप्रायको नय कहते हैं। जब कोई वक्ता कहता है कि वस्तु सर्वथा सत् है, सर्वथा असत् है सर्वथा एक है, सर्वथा अनेक है, सर्वथा नित्य है, सर्वथा अनित्य है, सर्वथा वक्तव्य है और सर्वथा अवक्तव्य है, तो यहाँ एकान्तका प्रतिपादन करनेवाले जो नय पक्ष हैं वे सब दूषित (मिथ्या) नय हैं क्योंकि ये नय अपने विरोधी धर्मका निषेध करने के कारण वस्तुतत्त्वको विकृत कर देते हैं। जो वक्ता कहता है कि वस्तु सर्वथा सत् है या सर्वथा नित्य है उसका कथन प्रमाण बाधित होनेके कारण असत्य है तथा स्वपक्षको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। जब वस्तु सर्वथा सत् या नित्य नहीं है तब उसको सर्वथा सत् या सर्वथा नित्य बतलाने वाले सर्वथैकान्तवादमें वस्तुतत्त्व प्रदूषित हो ही जाता है।

इसके विपरीत जब कोई वक्ता कहता है कि वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् असत् है, स्यात् एक है, स्यात् अनेक है, स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है, स्यात् वक्तव्य है और स्यात् अवक्तव्य है, तो यहाँ अनेकान्तका प्रतिपादन करनेवाले जो नय पक्ष हैं वे सब सम्यक् नय हैं। क्योंकि ये सब नय अपने विरोधी धर्म सापेक्ष होनेके कारण वस्तुतत्त्वको पुष्ट करते हैं। अर्थात् उसके पूर्ण स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं। जब कोई वक्ता कहता है कि वस्तु कथंचित् सत् है, कथंचित्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नित्य हैं, कथंचित् एक है और कथंचित् वक्तव्य है, तो उसका कथन विरोधी धर्म सापेक्ष होनेके कारण प्रमाणसंगत है और स्वपक्षका साधक है। इस प्रकार यहाँ यह बतलाया गया है कि सुनय कौन है और दुर्नय कौन है अथवा सम्यक् नय कौन है और मिथ्या नय कौन है।

सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥ १७ ॥

सामान्यार्थ—सर्वथारूप नियमाका त्याग करनेवाला और प्रमाणसिद्ध वस्तु-स्वरूपकी अपेक्षा रखने वाला 'स्यात्' शब्द आपके न्यायमें है। किन्तु वह स्वयं अपने वैरी अन्य एकान्तवादियोंके न्याय (मत) में नहीं है।

विशेषार्थ—यहाँ स्यात् शब्दका महत्त्व बतलाया गया है। स्यात् शब्द सर्वथा नियमका त्यागी है। वस्तु सर्वथा सत् हैं, सर्वथा नित्य है, सर्वथा एक है और सर्वथा वक्तव्य है, इत्यादि प्रकारसे कथन करना सर्वथा नियम कहलाता है। स्यात् शब्दने सर्वथाके नियमको छोड़ दिया है। जहाँ स्यात् शब्दका प्रयोग होगा वहाँ सर्वथा नियम रह ही नहीं सकता है। क्योंकि स्यात् और सर्वथामें पारस्परिक विरोध है। इसके अतिरिक्त स्यात् शब्द प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रतिपन्न वस्तु-स्वरूपकी की अपेक्षा रखता हैं। वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् नित्य है, स्यात् एक है और स्यात् वक्तव्य है, इत्यादि प्रकारसे वस्तुका जो स्वरूप प्रमाणसिद्ध हैं उस स्वरूपकी अपेक्षासे वह वस्तुका प्रतिपादन करता है। अर्थात् जो वस्तु जैसी देखी गई है उसका उसी रूपमें प्रतिपादन करता है।

ऐसा स्यात् शब्द श्री अर जिनके न्याय (अनेकान्तदर्शन) में है और आत्म-वैरी एकान्तवादियोंके न्याय (एकान्तदर्शन) में नहीं है। स्यात् शब्दका प्रयोग अनेकान्तवादी ही करता है, एकान्तवादी नहीं। यदि एकान्तवादी स्यात् शब्दका प्रयोग करने लगे तो उसका वाद एकान्तवाद न होकर अनेकान्तवाद हो जायेगा। जो एकान्तवादी हैं वे परवैरी तो हैं ही, साथ ही स्ववैरी भी हैं। एकान्तवादी यथार्थ वस्तुतत्त्वको न जाननेके कारण अनेकान्तवादीका विरोध करते हैं। इसलिए वे परवैरी हैं। किन्तु अनेकान्तदृष्टिके अभावमें एकान्तवादी स्वपक्षकी सिद्धि भी नहीं कर सकते हैं। इसलिए वे स्ववैरी भी हैं।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ १८ ॥

सामान्यार्थ—हे अर जिन! आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नयरूप साधनोंकी अपेक्षासे अनेकान्तरूप है। वह प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्तरूप है और विवक्षित नयकी अपेक्षासे एकान्तरूप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेषार्थ—यहाँ प्रश्न यह है कि जिस प्रकार जीवादि समस्त पदार्थ अनेकान्तरूप हैं, क्या उसी प्रकार अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। इस प्रश्नका तात्पर्य यह है कि अनेकान्तको सर्वथा अनेकान्तरूप मानने पर अनेकान्तवादीको स्वमत हानिका प्रसंग प्राप्त होता है। क्योंकि अनेकान्तवादमें सर्वथा नियमका त्याग है। अर्थात् किसी भी वस्तु तत्त्वका प्रतिपादन करते समय सर्वथा शब्दका प्रयोग वर्जित है।

उक्त प्रश्नका समाधान यह है कि अनेकान्त भी सर्वथा अनेकान्तरूप नहीं है, किन्तु कथंचित् अनेकान्तरूप और कथंचित् एकान्तरूप है। वस्तु तत्त्वके प्रतिपादन करनेके या जाननेके दो साधन हैं—प्रमाण और नय। प्रमाण और नयोंके द्वारा जीवादि पदार्थोंका अधिगम होता है। प्रमाण और नय दोनों सम्यग्ज्ञान हैं। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है और नय वस्तुके एक अंशको ग्रहण करता है। प्रमाण के द्वारा वस्तुके समस्त धर्मोंका एक साथ ग्रहण होता है और नयोंके द्वारा क्रमशः वस्तुके एक-एक धर्मका ग्रहण होता है। इसी कारण प्रमाणको सकलादेश और नयको विकलादेश कहा गया है। जब वस्तु तत्त्वका ग्रहण या प्रतिपादन प्रमाणके द्वारा किया जाता है तब वस्तुके समस्त धर्मोंका ग्रहण होनेके कारण प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्त अनेकान्तरूप है। अर्थात् केवल जीवादि पदार्थ ही अनेकान्तरूप नहीं हैं, किन्तु अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। इसके विपरीत वही अनेकान्त कभी एकान्तरूप भी हो जाता है। जब वक्ता वस्तुके अनेक धर्मोंमें से किसी विवक्षित नयकी दृष्टिसे किसी एक धर्मका प्रतिपादन करता है तब वही अनेकान्त एकान्तरूप हो जाता है। किन्तु अन्य धर्म सापेक्ष होनेके कारण वह सम्यक् एकान्त है, मिथ्यैकान्त नहीं। मिथ्यैकान्त तो अन्य धर्मोंका निराकरण करके केवल एक धर्मको सिद्ध करता है।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि अनेकान्त जब एकान्तरूप होता है तब वह सर्वथा एकान्तरूप न होकर कथंचित् एकान्तरूप होता है। एकान्त दो प्रकारका है— सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। अन्य धर्म सापेक्ष होकर किसी एक धर्मका कथन या ज्ञान सम्यक् एकान्त है। और अन्य धर्मोंका निराकरण करके सर्वथा एक धर्मको ही स्वीकार करना मिथ्या एकान्त है। अनेकान्त जब एकान्तरूप होता है तब वह सम्यक् एकान्तरूप होता है, मिथ्या एकान्तरूप नहीं। इस प्रकार अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी सिद्धि होती है। अनेकान्त कथंचित् अनेकान्त है और कथंचित् एकान्त है। वह प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्त है और नयकी अपेक्षासे एकान्त है। अनेकान्तमें अनेकान्तात्मकत्व और एकान्तात्मकत्व दोनों धर्म पाये जाते हैं। अतः अनेकान्तको अनेकान्तरूप होनेमें कोई विरोध नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति निरुपमयुक्तशासनः
प्रियहितयोगगुणानुशासनः ।
अर जिन दमतीर्थनायक-
स्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ।। १९ ।।

सामान्यार्थ—हे अर जिन ! आपका शासन अनुपम और युक्त है । आप प्रिय और हितकारी योगों और गुणोंके अनुशासक हैं तथा दमतीर्थ (प्रवचन तीर्थ) के नायक हैं । भव्य जीवोंको प्रतिबोध देनेके लिए आपके समान और कौन समर्थ है ?

विशेषार्थ--यहाँ यह बतलाया गया है कि श्री अर जिनका शासन (मत) कैसा है । उनका शासन अनुपम है । उस शासनकी तुलना अन्य किसी शासनसे नहीं की जा सकती है । अतः उपमारहित होनेके कारण वह अनुपम है । तथा प्रमाण संगत होनेसे वह युक्त है । श्री अर जिनने जीवादि पदार्थोंका जो निरूपण किया है वह प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध होनेके कारण युक्तिसंगत और अबाधित है । श्री अर जिनके शासनमें प्रिय और हितकारी योगों और सम्यग्दर्शनादि गुणोंका अनुशासन भरा हुआ है । यहाँ योग शब्दसे प्रशस्त मन, वचन और कायके व्यापारका ग्रहण करना है । उनके प्रशस्त तीनों योगोंकी प्रवृत्ति भव्य जीवोंके लिए सुखदायक और हितकारक है । उन्होंने भव्य जीवोंके लिए भी यही उपदेश दिया है कि तीनों योगोंकी अप्रशस्त प्रवृत्तिको छोड़कर उनकी प्रशस्त प्रवृत्तिपर ही ध्यान देना चाहिए । इसी प्रकार सुखदायक और हितकारक सम्यग्दर्शनादि गुणोंका अनुशासन (उपदेश) भी श्री अर जिनके शासनमें विद्यमान है ।

उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह है कि श्री अर जिन प्रिय और हितकारी योगों और सम्यग्दर्शनादि गुणोंके अनुशासक हैं । इसके साथ ही वे दमतीर्थनायक हैं । कषायों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना दम कहलाता है । तीर्थका अर्थ यहाँ प्रवचन है । यहाँ दम शब्द उपलक्षण है । अर्थात् दमके द्वारा गुप्ति, समिति, धर्म आदिका भी ग्रहण करना चाहिए । श्री अर जिनके प्रवचनमें दम, गुप्ति, समिति आदि कल्याणकारी बातोंका प्रतिपादन किया गया है । अतः वे दमतीर्थ (प्रवचन तीर्थ या आगम तीर्थ) के प्रवर्तक या नायक हैं । ऐसे श्री अर जिन ही भव्य जीवोंको प्रतिबोध देनेके लिए सर्वथा समर्थ हैं, अन्य दूसरा कोई समर्थ नहीं है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मतिगुणविभवानुरूपत-
स्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः।
गुणकृशमपि किञ्चनोदितं
मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥ २० ॥ (१०५)

सामान्यार्थ—हे वरद अर जिन ! मैंने अपनी बुद्धिके गुणोंकी शक्तिके अनुरूप तथा आगमकी दृष्टिके अनुसार आपके विषयमें आपके गुणोंका जो थोड़ा सा कीर्तन किया है वह गुण कीर्तन मेरे पाप कर्मोंके विनाशमें समर्थ होवे।

विशेषार्थ—श्री अर जिन वरद हैं—वरको प्रदान करनेवाले हैं। बुद्धिके गुणका विभव है–उसकी शक्ति। श्री अर जिनमें अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणोंका वर्णन करना असम्भव है। हे अर जिन ! मैंने अपनी बुद्धिके गुणोंकी शक्तिके अनुसार आगममें प्रतिपादित आपके गुणोंके आधार पर आपके कुछ थोड़ेसे गुणोंका कीर्तन किया है। मैं अल्पबुद्धि हूँ, फिर भी मैंने यथाबुद्धि और यथाशक्ति आपके गुणोंका लेशमात्र कीर्तन किया है। हे भगवन् ! इस गुणकीर्तनके फलस्वरूप मुझे ऐसा वर दीजिए जिससे मेरे पाप कर्मोंका क्षय हो जावे। जो कार्य किसी महापुरुष या सिद्धपुरुषके वचन बलसे सिद्ध होता है वह वर कहलाता है। अतः हे अर जिन ! मैं आपसे ऐसे वरकी आकांक्षा करता हूँ जिससे मेरे कर्मोंका क्षय हो जावे। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि भगवान् किसीको वर नहीं देते हैं। यहाँ वर माँगनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्तुतिकार अपनी भावनाको प्रकट करते हुए कहते हैं कि आपकी स्तुतिके फलस्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि मैं कर्मोंका क्षय करके आपके समान निर्मल बन जाऊँ।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि स्तुतिकारने सबसे अधिक स्तुति श्री अर जिनकी की है। जहाँ अन्य तीर्थंकरोंकी स्तुति प्रायः पाँच श्लोकों द्वारा की गई है वहाँ श्री अर जिनकी स्तुति बीस श्लोकों द्वारा की गई है। उन्नीसवें श्लोकमें उनका नाम अर जिन बतलाया गया है। लेकिन यहाँ यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि 'अर' नामकरणका कारण क्या है। वर्तमानमें श्री अर जिनका नाम अरहनाथ प्रचलित है।

व्याकरणशास्त्रके अनुसार 'अर' शब्द गमनार्थक ऋ धातुसे बना है। अतः जो अपने पथ पर सदा गमनशील रहता है वह 'अर' कहलाता है। श्री अर जिन अप्रमत्त होकर अपने मोक्ष पथ पर सदा गमनशील रहे हैं। इसलिए वे अर कहलाते हैं।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१९) श्री मल्लि जिन स्तवन

यस्य महर्षेः सकलपदार्थ-

प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।

सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं

प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—जिन महर्षिके सकल पदार्थोंको जाननेवाला प्रत्यवबोध (परिज्ञान) साक्षात्‌रूपसे उत्पन्न हुआ और जिन्हें देवों और मनुष्योंके साथ समस्त जगत्‌ने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया, मैं उन मल्लि जिनकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ ।

विशेषार्थ—श्री मल्लि जिन इन्द्रादि तथा गणधरादि द्वारा पूज्य महान् ऋषि हैं। उनका ज्ञान (केवलज्ञान) त्रिकालवर्ती जीवादि समस्त पदार्थोंको उनके गुण और पर्यायोंके साथ साक्षात्‌रूपसे जानता है । उस ज्ञानमें इन्द्रिय, श्रुत आदिकी अपेक्षा नहीं होती है । वह आत्मामात्र जन्य होनेके कारण तथा मति आदि चार ज्ञानोंसे निरपेक्ष होनेके कारण केवलज्ञान कहलाता है । श्री मल्लि जिनको सकल पदार्थोंका साक्षात्कार करनेवाला अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष उत्पन्न हो गया है । अर्थात् वे सर्वज्ञ हो गए हैं । इसी कारण चारों निकायोंके देवों तथा मनुष्योंके साथ संसारके अन्य प्राणियोंने भी उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया है । ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है और केवलज्ञानी हो जाने पर भगवान् समवसरणमें विराजमान होकर भव्य जीवोंके कल्याणके लिए उपदेश देते हैं । उस समय समवसरणमें देव, मनुष्य और तिर्यंच भी उपस्थित रहते हैं तथा वे सब उपदेश श्रवणसे हर्षित होकर भगवान्‌को बार-बार प्रणाम करते हैं । मैं ऐसे मल्लि जिनकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ ।

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव

स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा ।

वागपि तत्त्वं कथयितुकामा

स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—सुवर्णसे निर्मित जैसी तथा अपनी स्फुरायमान आभासे शरीरके चारों ओर परिमण्डलकी रचना करनेवाली जिनकी मूर्ति (शरीराकृति) और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तु स्वरूपका 'स्यात्' पद पूर्वक प्रतिपादन करनेवाली जिनकी वाणी भी भव्य जीवोंको प्रसन्न करती है। मैं ऐसे मल्लि जिनकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ।

विशेषार्थ—भगवान् मल्लिनाथका शरीर अत्यन्त सुन्दर था। वह ऐसा मालूम पड़ता था मानों स्वर्णसे ही बनाया गया हो। अर्थात् उनका शरीर कंचन-वर्णका था। उनके शरीरसे स्फुरायमान (देदीप्यमान) आभा निकलती थी, जो सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करके प्रभामण्डलका रूप धारण कर लेती थी। श्री मल्लि जिनकी वाणी भी जीवादि समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाली थी। उस वाणीकी एक विशेषता यह थी कि उसके द्वारा किया गया वस्तुतत्त्वका प्रतिपादन स्यात् पद पूर्वक होता था। स्यात् शब्दके प्रयोगसे अनेकान्तवादका समर्थन होता है और सर्वथा शब्दके प्रयोगसे एकान्तवादका प्रसंग आता है। श्री मल्लि जिनका सम्पूर्ण प्रवचन अनेकान्तरूप है, एकान्तरूप नहीं। उनकी ऐसी वाणी भव्य जीवोंको आकर्षित करके अपनेमें अनुरक्त करती है। इस प्रकार उनका शरीर और वाणी दोनों ही भव्य जीवोंको प्रसन्न करती हैं। भव्य जीव उनके सुन्दर शरीरको देखकर तथा स्यात् पद पूर्वक प्रयुक्त उनकी वाणीको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। मैं ऐसे मल्लि जिनकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ।

यस्य पुरस्ताद् विगलितमाना
न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासी-
ज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—जिनके सामने एकान्तवादी जन खण्डित मान होकर पृथिवी पर विवाद नहीं करते थे और जिनके विहारके समय पृथिवी भी पद-पद पर विकसित कमलों द्वारा मृदुहासको लिए हुए थी, मैं ऐसे मल्लि जिनकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ।

विशेषार्थ—श्री मल्लि जिनकी वाणी स्यात् पद पूर्वक होनेके कारण अनेकान्तवादकी समर्थक और एकान्तवादकी प्रतिषेधक थी। यही कारण है कि उनके समक्ष जाने पर एकान्तवादी जनोंका मान (एकान्तवादका अहंकार) गलित (नष्ट) हो जाता था। अतः वे स्वपक्षकी सिद्धिके लिए और परपक्षमें दूषण देनेके लिए विवाद नहीं करते थे। समवसरणमें जाते ही उनका मान नष्ट हो जाता था। इस कारण वे वाद-विवादको भूलकर श्री मल्लि जिनकी शरणमें आ गये थे। इस भूमण्डल पर श्री मल्लि जिनके विहारके समय देवों द्वारा पद-पद पर कमलोंकी रचना की जाती थी। उन खिले हुए कमलोंसे पृथिवी अत्यन्त मनोहर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मालूम पड़ती थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी मानों मन्द-मन्द हाससे अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रही हो। देवरचित खिले हुए कमलोंको ही पृथिवीका मन्द-मन्द हास समझना चाहिए।

इस प्रकार जिनके समक्ष एकान्तवादी विवाद नहीं करते थे और जिनके विहारके समय पृथिवी अत्यन्त रमणीक हो जाती थी, मैं ऐसे मल्लि जिनकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ।

यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः
शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत्।
तीर्थमपि स्वं जननसमुद्र-
त्रासितसत्त्वो त्तरणपथोऽग्रम्॥ ४॥

सामान्यार्थ—जिन मल्लि जिन रूप चन्द्रमाके चारों ओर शिष्यसाधुरूप ग्रहों (ताराओं) का विभव (ऐश्वर्य) था और जिनका अपना तीर्थ (शासन) भी संसार समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको पार उतरनेके लिए प्रधान मार्ग था, मैं उन मल्लि जिनेन्द्रकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ।

विशेषार्थ—यहाँ श्री मल्लि जिनको चन्द्रमाके समान बतलाया गया है। जिस प्रकार शिशिरांशु (चन्द्रमा) की किरणें शीतल होती हैं, उसी प्रकार श्री मल्लि जिनकी वचनरूप किरणें वस्तुस्वरूपकी प्रकाशक होनेसे संसार-तापको शान्त करनेके कारण शीतल थीं। तथा जिस प्रकार चन्द्रमाके चारों ओर ताराओं का वैभव विद्यमान रहता है—चन्द्रमा ताराओंसे घिरा रहता है, उसी प्रकार श्री मल्लि जिनके चारों ओर अपने शिष्यरूप साधुओं (मुनियों अथवा भव्य जीवों) का वैभव विद्यमान था—वे चारों ओरसे प्रचुर परिमाणमें शिष्यरूप साधुओंके समूहसे घिरे रहते थे। और जिनका धर्मतीर्थ या शासन भी संसारके दुःखोंसे भयभीत प्राणियोंको संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिए श्रेष्ठ मार्ग था। अर्थात् श्री मल्लि जिनके धर्मतीर्थके द्वारा प्रदर्शित मोक्षमार्गपर चलकर भव्य जीव संसारके दुःखोंसे मुक्त हो जाते थे। मैं ऐसे मल्लि जिनेन्द्रकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ।

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
र्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत्।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं
मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि॥ ५॥ (११०)

सामान्यार्थ—जिनके शुक्लध्यान स्वरूप श्रेष्ठ तप रूप अग्निने अनन्त दुरित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(पापों) को भस्म कर दिया था, मैं उन कृतकृत्य और शल्य रहित जिनसिंह (जिन श्रेष्ठ) श्री मल्लि जिनेन्द्रकी शरणको प्राप्त हुआ हूँ।

विशेषार्थ—आभ्यन्तर तपके छह भेद बतलाये गये हैं। उनमें शुक्लध्यान नामका तप सर्वोत्कृष्ट तप है। यह तप अग्निके समान है। जिस प्रकार अग्नि अपरिमित इंधनके समूहको भस्म कर देती है, उसी प्रकार शुक्लध्यान भी अनन्त कर्मपुंजको भस्म कर देता है। कर्मपरमाणु अनन्त हैं। उनका अन्त करना सरल नहीं है। ऐसे अष्ट कर्मरूप पापोंको शुक्लध्यानरूप अग्नि भस्म कर देती है। शुक्लध्यानके चार भेद हैं। उनमेंसे पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ध्यान द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश होता है। तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत-क्रियानिर्वति ध्यान द्वारा अघातिया कर्मोंका नाश होता है।

श्री मल्लि जिन कृतकृत्य हैं। उन्हें जो कुछ करना था उसे कर चुके हैं। उनका लक्ष्य संसारका उच्छेद करना था, उस लक्ष्यको वे प्राप्त कर चुके हैं। वे माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित हैं। तथा इन्द्रियों और कषायोंको जीतनेवाले साधुओंमें सिंहके समान श्रेष्ठ हैं। मैं ऐसे मल्लि जिनेन्द्र की शरणको प्राप्त हुआ हूँ। संभवतः मोहरूप मल्लको जीतनेके कारण इनका नाम मल्लि जिन हुआ है।

यहाँ शल्य शब्दके अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक है। शल्य काँटेके समान होती है जो हृदयमें चुभती रहती है। किसी मनुष्यके पैरमें काँटाके चुभ जाने पर जब तक कांटा निकल न जाय तब तक वह मनुष्य शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता है। इसी प्रकार व्रती पुरुषको अपनी मानसिक स्थितिको ठीक रखनेके लिए शल्योंका त्याग करना आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्रमें बतलाया गया है कि जो शल्य रहित है वह व्रती होता[1] है।

शल्य तीन हैं—माया शल्य, मिथ्यात्व शल्य और निदान शल्य। व्रतोंके पालनमें कपट करना माया शल्य है। व्रतों पर श्रद्धा न रखना मिथ्यात्व शल्य है। और व्रतोंके फलस्वरूप भोगोंकी लालसा करना निदान शल्य है।

●

---

१. निःशल्यो व्रती। —तत्त्वार्थसूत्र ७/१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२०) श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन

अधिगतमुनिसुव्रतस्थिति-
मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः।
मुनिपरिषदि निर्बभौ भवा-
नुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—हे मुनिसुव्रत जिन ! मुनियोंके उत्तम व्रतोंकी स्थिति (स्वरूप) को अधिगत करनेवाले, मुनियोंमें श्रेष्ठ और पापरहित आप मुनियोंकी सभामें उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार नक्षत्रोंके समूहसे परिवेष्ठित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—बीसवें तीर्थंकरका नाम मुनिसुव्रतनाथ है। यह नाम सार्थक है। श्री मुनिसुव्रत जिनने मुनियोंके अट्ठाईस मूलगुणों और चौरासी लाख उत्तर-गुणोंके स्वरूपको अच्छी तरहसे जान लिया था और स्वयं तदनुकूल आचरण भी किया था। इसी कारण उनका नाम मुनिसुव्रत है। वे गणधरादि मुनियोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण मुनिवृषभ कहलाते हैं और चार घातिया कर्मरहित होनेके कारण निष्पाप हैं। ऐसे मुनिसुव्रतनाथ भगवान् समवशरण सभामें गणधरादि मुनियोंके मध्य उसी प्रकार शोभायमान हुए थे जिस प्रकार आकाशमें नक्षत्रोंके समूहके मध्य चन्द्रमा सुशोभित होता है।

परिणतशिखिकण्ठरागया
कृतमदनिग्रह विग्रहाभया।
तव जिन तपसः प्रसूतया
ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—काम अथवा अहंकारका निग्रह करनेवाले हे मुनिसुव्रत जिन ! तपसे उत्पन्न हुई तथा तरुण मयूरके कण्ठके समान वर्णवाली आपके शरीरकी आभा (कान्ति) चन्द्रमाके परिवेष (परिमण्डल)की आभाके समान सुशोभित हुई थी।

विशेषार्थ—श्री मुनिसुव्रत जिनने कामविकार तथा अहंकारका सर्वथा नाश कर दिया था। उनका शरीर तरुण मयूरके कण्ठके समान नील वर्णका था। वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी स्वाभाविक कान्तिसे युक्त तो था ही, किन्तु तपश्चरणसे उत्पन्न हुई आभासे और भी अधिक कान्तिपूर्ण हो गया था। अतः तपसे उत्पन्न हुई उनके शरीरके परिमण्डलकी कान्ति उसी प्रकार सुशोभित हुई थी जिस प्रकार चन्द्रमाके परिमण्डलकी कान्ति सुशोभित होती है। तात्पर्य यह है कि उनके शरीरकी प्रभा शरीरके चारों ओर उसी प्रकार व्याप्त हो गई थी जिस प्रकार चन्द्रमाकी प्रभा चन्द्रमाके चारों ओर व्याप्त हो जाती है। इस श्लोकके द्वितीय चरणमें 'कृतमद-निग्रह' और 'विग्रहाभया' इन दो पदोंके स्थानमें 'कृतमदनिग्रहविग्रहाभया' ऐसा एक पद भी किया जा सकता है। इस एक पदमें कृतमदनिग्रह शब्द विग्रहका विशेषण हो जाता है। तब 'कृतमदनिग्रहविग्रहाभया शोभितम्' का अर्थ होगा—मदका निग्रह करनेवाले शरीरको आभा शोभित हुई। लेकिन जब कृतमदनिग्रह पदको विग्रहाभया पदसे पृथक् रखते हैं तब कृतमदनिग्रह शब्द श्री मुनिसुव्रत जिनके लिए सम्बोधन हो जाता है, जैसा कि सामान्यार्थमें लिखा गया है।

यहाँ 'विग्रहाभया' इस पदमें विग्रहाभा शब्द कर्ता है और इसमें तृतीया विभक्ति हुई है। तथा 'शोभितम्' यह भाववाचक क्रिया पद है। अतः 'विग्रहा-भाया शोभितम्' का अर्थ है—शरीरकी आभा शोभित हुई। शोभ धातुसे भाव अर्थमें 'क्त' प्रत्यय होने पर 'शोभितम्' यह भाववाचक क्रिया पद बनता है। यतः 'शोभितम्' यह पद 'क्त' प्रत्ययान्त है, अतः इसके योगमें 'विग्रहाभया' यह कर्तृपद तृतीयान्त हो गया है।

शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं
सुरभितरं विरजो निजं वपुः।
तव शिवमतिविस्मयं यते
यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे यतिराज! आपका अपना शरीर चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त, अत्यन्त सुगन्धित, मलरहित, शिवस्वरूप तथा अत्यन्त आश्चर्यकारक है। और आपके वचन तथा मनकी जो प्रवृत्ति है वह भी शिवस्वरूप तथा अत्यन्त आश्चर्य करनेवाली है।

विशेषार्थ—यहाँ श्री मुनिसुव्रत जिनके शरीर, वचन और मनका माहा-त्म्य बतलाया गया है। श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर होनेके कारण उनका शरीर सामान्य मनुष्योंके शरीरकी अपेक्षा कुछ विशेषताओंको लिये हुए था। अन्य मनुष्योंके शरीरका रुधिर लाल होता है। इसके साथ ही वह दुर्गन्धित और मल-मूत्र सहित होता है। इसके विपरीत श्री मुनिसुव्रत जिनके शरीरका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रुधिर सफेद, अत्यन्त सुगन्धित तथा मल-मूत्रकी बाधासे रहित था। इन बातोंसे ज्ञात होता है कि उनका शरीर अत्यन्त शुभ और सबके लिए आश्चर्य-कारक था। उनके मन और वचनकी जो प्रवृत्ति है वह भी कल्याणकारक और आश्चर्यजनक थी। केवलज्ञान हो जाने पर उनके वचनकी दिव्यध्वनिरूप जो प्रवृत्ति होती है वह विना इच्छाके ही होती है तथा वह सर्वभाषारूप परिणत हो जाती है। उसके द्वारा भव्य जीवोंका कल्याण तो होता ही है, साथ ही वह समस्त जीवोंके लिए आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। उनके मनकी प्रवृत्ति भी रागादि विकारोंसे रहित होती है। इस प्रकार श्री मुनिसुव्रत जिनके वचन और मनकी प्रवृत्ति भी शिवस्वरूप और सब जीवोंके लिए आश्चर्यजनक वतलाई गई है। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यही है कि मुनिसुव्रतनाथ भगवान्का शरीर, वचन तथा मन तीनों ही सबके लिए अत्यन्त शुभ, कल्याणकारक और आश्चर्यजनक थे।

स्थितिजननिरोधलक्षणं
चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं
वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे मुनिसुव्रत जिन! यह चर और अचर जगत् प्रतिक्षण ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययरूप लक्षणसे युक्त है, ऐसा वक्ताओंमें श्रेष्ठ आपका जो वचन है वह सर्वज्ञका चिह्न है।

विशेषार्थ—संसारके जितने पदार्थ हैं उनमेंसे कुछ चेतन हैं और शेष सब अचेतन हैं। जीव द्रव्य चेतन है तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य अचेतन है। ये समस्त द्रव्य अथवा पदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं। द्रव्यका लक्षण सत् है[1]। जो सत् है वह द्रव्य है। तथा जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों पाये जावें वह सत् कहलाता है[2]। किसी भी वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भिन्न-भिन्न समयमें नहीं रहते हैं, किन्तु तीनों एक साथ और प्रतिक्षण रहते हैं। जिस समय पूर्व पर्यायका नाश होता है उसी समय उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति होती है तथा दोनों पर्यायोंमें द्रव्यका सद्भाव बराबर बना रहता है। वस्तुमें उत्पाद और व्यय पर्यायकी अपेक्षासे होते हैं और ध्रौव्य द्रव्यकी अपेक्षासे होता है।

---

१. सद् द्रव्यलक्षणम्।—तत्त्वार्थसूत्र ५.२९

२. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।—तत्त्वार्थसूत्र ५.३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको दो उदाहरणों द्वारा अच्छी तरहसे समझाया है। एक स्वर्णका घट है। उसे तोड़कर मुकुट बना लिया। यहाँ घट पर्यायका नाश हुआ और मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति हुई। किन्तु दोनों ही पर्यायोंमें स्वर्णका अस्तित्व बराबर बना रहता है। घट पर्यायका नाश होनेपर घटार्थीको शोक होता है और मुकुट पर्यायके उत्पन्न होनेपर मुकुटार्थीको हर्ष होता है, किन्तु सुवणार्थीको दोनों ही स्थितियोंमें माध्यस्थ्यभाव रहता है। जो सुवर्ण घटके रूपमें था वही मुकुटके रूपमें भी विद्यमान है। इसलिए उसे न शोक होता है और न हर्ष होता है। क्योंकि शोक, प्रमोद और माध्यस्थ्य ये तीनों सहेतुक होते हैं। घटार्थीके शोकका कारण घटका नाश है, मुकुटार्थीके हर्षका कारण मुकुटका उत्पाद है और सुवणार्थीके माध्यस्थ्यभावका कारण दोनों ही अवस्थाओंमें सुवर्णका बना रहना है। इसी बातको आप्तमीमांसा में निम्नप्रकार बतलाया गया है--

घटमौलिसुवणार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥ ५९॥

अब दूसरा उदाहरण देखिए--जिसके दुग्ध लेनेका व्रत है वह दधि नहीं खाता है, जिसके दधि लेनेका व्रत है वह दुग्ध नहीं पीता है और जिसके गोरस न लेनेका व्रत है वह दुग्ध और दधि दोनोंको ही नहीं खाता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक तत्त्व त्रयात्मक (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप) है। दुग्धरूपसे जिसका नाश हुआ है उसीका दधिरूपसे उत्पाद हुआ है, किन्तु दोनों ही पर्यायोंमें गोरस विद्यमान रहता है। यही ध्रौव्य है। जो दधिरूप है वह दुग्धरूप नहीं है और जो दुग्धरूप है वह दधिरूप नहीं है। इसीलिए पयोव्रती दधि नहीं खाता है और दधिव्रती दुग्ध नहीं पीता है। किन्तु अगोरसव्रती दोनोंको ही नहीं लेता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है। इसी बातको आप्तमीमांसामें इस प्रकार बतलाया गया है--

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्॥ ६०॥

संसारके जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको एक साथ जानना सर्वज्ञताके बिना सम्भव नहीं है। अतः समस्त पदार्थोंमें प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको बतलानेवाला श्री मुनिसुव्रत जिनका वचन यह सिद्ध करता है कि वे सर्वज्ञ हैं तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। वक्ताओंमें श्रेष्ठ वही होता है जो यथार्थ वक्ता है। जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहना पदार्थके पूर्ण ज्ञानके बिना सम्भव नहीं है। इसलिए जो यथार्थवक्ता है वह श्रेष्ठ वक्ता और सर्वज्ञ होता है। यतः श्री मुनिसुव्रत जिन यथार्थवक्ता हैं, अतः वे श्रेष्ठवक्ता और सर्वज्ञ हैं।

दुरितमलकलङ्कमष्टकं
निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभवसौख्यवान् भवान्
भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥ ५ ॥ (११५)

सामान्यार्थ—हे मुनिसुव्रत जिन! आप अनुपम योगबलसे अष्ट प्रकारके कर्ममलकलंकको जलाते हुए संसारमें न पाये जानेवाले सौख्यको प्राप्त हुए हैं। अतः आप मेरे भी संसारकी उपशान्तिके लिए निमित्तभूत होवें।

विशेषार्थ—मुनिसुव्रतनाथ भगवान्ने सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यानकी शक्तिसे ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको नष्ट कर दिया है। आठ प्रकारके कर्म आत्माके शुद्ध स्वभावके प्रच्छादक होनेसे मलरूप या पापरूप हैं। इस कर्ममलके द्वारा आत्मा स्वभावच्युत होनेके कारण कलंकित हो जाता है। किन्तु वही कलंकित आत्मा शुक्ल ध्यानके द्वारा कर्ममलकलंक रहित हो जाता है। श्री मुनिसुव्रत जिन कर्ममल रहित हैं तथा अतीन्द्रिय सुख अथवा मोक्ष सुखके भोक्ता हैं। संसारके प्राणियोंका जो सुख है वह इन्द्रियजन्य सुख है। किन्तु सर्व कर्मोंका क्षय हो जानेपर जो सुख उत्पन्न होता है वह अतीन्द्रिय सुख अथवा मोक्षसुख कहलाता है। वह सुख अनन्त और निराकुल होता है।

यहाँ स्तुतिकार कहते हैं कि हे मुनिसुव्रत जिन! आपने तो कर्मकलंकको नष्ट करके मोक्षसुखको प्राप्त कर लिया है। अब आप मेरे संसारकी उपशान्तिके लिए भी निमित्तभूत हों, ऐसी मेरी भावना है। मैं चाहता हूँ कि आपका निमित्त पाकर मेरी आत्मा में भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जिससे मैं अष्ट कर्मोंको नष्ट करके मोक्षसुखका पात्र बन सकूँ।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२१) श्री नमि जिन स्तवन

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌की स्तुति स्तोता भव्य पुरुषके पुण्य साधक शुभ परिणामके लिए होती है। चाहे उस समय स्तुत्य (आराध्य देव) विद्यमान हो या न हो, और चाहे स्तुति करने वाले भव्य पुरुषको स्तुत्यके द्वारा फलकी प्राप्ति होती हो या न होती हो। इस प्रकार जगत्‌में स्वाधीनतासे कल्याण मार्गके सुलभ होनेपर ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो सर्वदा पूजनीय श्री नमि जिनकी स्तुति न करे।

विशेषार्थ—यहाँ श्री नमि जिनकी स्तुतिका प्रयोजन या फल बतलाया गया है। यहाँ विचारणीय यह है कि कोई स्तोता जिनेन्द्र भगवान्‌की स्तुति क्यों करता है और स्तुति करनेसे उसे क्या फल मिलता है। इसका उत्तर यह है कि विवेकके साथ भक्तिपूर्वक स्तुति करनेवाले भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी स्तुति करनेसे पुण्य-साधक प्रशस्त परिणामोंकी प्राप्ति होती है। अर्थात् स्तुतिके द्वारा परिणाम निर्मल होते हैं और निर्मल परिणामों द्वारा पुण्यबन्ध होता है। तथा पुण्यबन्धसे स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप फल मिलता है। ऐसा नहीं है कि स्तुतिके कालमें अथवा स्तुतिके क्षेत्रमें स्तुत्य विद्यमान हो तभी स्तोताको स्तुतिका फल मिले। स्तुत्य साक्षात् रूपमें अथवा मूर्तिके रूपमें विद्यमान न भी हो तो भी स्तोताको स्तुतिका फल अवश्य मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब स्तुतिके समय श्री नमि जिन समवशरणमें साक्षात् विद्यमान रहते हैं तब उनकी स्तुतिका फल स्तोताको मिलता ही है। वर्तमान कालमें श्री नमि जिन नहीं हैं, फिर भी उनकी मूर्तिके अवलम्बनसे श्री नमि जिनकी स्तुति करनेवालेको भी स्तुतिका फल अवश्य मिलता है। तथा श्री नमि जिनकी मूर्तिके न रहनेपर परोक्षरूपमें स्तुति करनेवालेको भी स्तुतिका फल मिलता है। स्तोता इस बातकी भी चिन्ता नहीं करता है कि स्तुत्य उसे फल देता है या नहीं। यथार्थमें वीतराग होनेसे स्तुत्य स्तोताको स्तुतिका फल नहीं देता है। किन्तु स्तोता स्तुतिका फल स्वयं प्राप्त करता है। जिनेन्द्रदेवकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्तुति करनेसे स्तोताके परिणाम निर्मल होते हैं और निर्मल परिणामोंसे पुण्यबन्ध होता है तथा पुण्यबन्धसे स्वर्गादि फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार इस संसारमें स्तोताको सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्ष पथ सुलभ है, स्तोताके अधीन है। स्तोता मोक्ष मार्गपर चलनेमें स्वतन्त्र है। स्तोता चाहे तो जिनेन्द्र भगवान्की श्रद्धापूर्वक स्तुति करके सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्ष मार्गको प्राप्त कर सकता है और परम्परया मोक्षको भी प्राप्त कर सकता है। जब ऐसी बात है तब ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो श्री नमि जिनकी स्तुति न करे। अर्थात् जो भी विद्वान् या विवेकी पुरुष हैं वह श्री नमि जिनकी स्तुति अवश्य करेगा।

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव-
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे धीमन् नमि जिन! शुद्ध आत्मस्वरूपमें एकाग्रचित्तवाले आपके द्वारा पुनर्जन्मके बन्धनको उसके मूल कारण सहित नष्ट कर दिया गया है। इसलिए आप विद्वज्जनोंके लिए मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष स्थान हैं। हे भगवन्! केवलज्ञानरूप ज्योतिकी समर्थ किरणोंके द्वारा आपके प्रकाशित होने-पर अन्य एकान्तवादीजन उसी प्रकार हतप्रभ हो गये थे जिस प्रकार निर्मल सूर्यके सामने खद्योत (जुगनू) प्रभारहित हो जाते हैं।

विशेषार्थ—श्री नमि जिनने शुद्ध आत्मस्वरूपमें चित्तकी एकाग्रतारूप धर्म्य-ध्यान और शुक्लध्यानके द्वारा पुनर्जन्मके बन्धनको अथवा संसारके बन्धनको उसके मूल कारण सहित नष्ट कर दिया था। ज्ञानावरणादि अष्टकर्म संसारमें जीवके परिभ्रमणके कारण हैं। कारणका नाश हो जानेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता है। जैसे दग्ध बीजसे अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञानावर-णादि चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेपर पुनर्जन्मका बन्धन नष्ट हो जाता है और ऐसे जीवको संसारमें परिभ्रमण नहीं करना पड़ता है। यतः श्री नमि जिन-ने ध्यानके द्वारा पुनर्जन्मके बन्धनको नष्ट कर दिया है अतः वे भव्य जीवोंके लिए मोक्षमार्ग अथवा मोक्षस्थान हैं। तात्पर्य यह है कि श्री नमिजिनकी शरणमें पहुँचकर भव्य जीव मोक्षमार्गपर चलकर मोक्षको प्राप्त कर सकते हैं। यही कारण है कि उनके लिए श्री नमि जिन मोक्षमार्गरूप अथवा मोक्षस्वरूप हैं।

श्री नमि जिन निर्मल सूर्यके समान केवलज्ञानरूप किरणोंसे प्रकाशित हो रहे हैं। उनकी केवलज्ञानरूप किरणोंका प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है। ऐसे श्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नमि जिनके समक्ष कपिल, मीमांसक आदि समस्त एकान्तवादी अथवा अन्य मतावलम्बी उसी प्रकार हतप्रभ हो जाते थे जिस प्रकार निर्मल सूर्यके सामने जुगनू प्रकाशहीन हो जाते हैं। जुगनू एक लघु कीट है जो वर्षा ऋतुमें रात्रिके अन्धकारमें किंचित् प्रकाश करता है। किन्तु दिनमें सूर्यके समक्ष जुगनू प्रकाश करनेमें असमर्थ हो जाता है। इसी प्रकार कपिल, मीमांसक आदि एकान्तवादी परोक्षमें तो अपने अभिमत तत्त्वोंका प्रचार करते रहते थे किन्तु श्री नमि जिनके समक्ष वे हतप्रभ होते थे। अर्थात् अपने द्वारा अभिमत तत्त्वोंका प्रचार करनेमें वे अपनेको सर्वथा असमर्थ पाते थे। ऐसा है श्री नमि जिनका माहात्म्य।

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद् ।
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ॥
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा ।
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—हे नमि जिन ! सम्पूर्ण जगत्के महान् गुरु आपने अनेक नयोंकी विवक्षा और अविवक्षाके वशसे अस्तित्व, नास्तित्व आदि प्रत्येक धर्मको लेकर सप्तभंग नियमके विषयभूत और सदा एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले अनन्त विशेष धर्मोंके द्वारा जीवादि वस्तु-तत्त्वको विधिरूप निषेधरूप, उभयरूप, अनुभय (अवक्तव्य) रूप और मिश्ररूप अर्थात् स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य तथा स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य इस प्रकार सप्तभंगरूप कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी इन तीनोंका विवेचन किया गया है। प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व, नास्तित्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। यही अनेकान्त है। इन अनेक धर्मोंका प्रतिपादन अनेक नयोंके द्वारा क्रमशः होता है। द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, निश्चय, व्यवहार तथा नैगमादिके भेदसे नयके अनेक भेद होते हैं। एक समयमें एक नयके द्वारा वस्तुके एक धर्मका ही प्रतिपादन किया जाता है। यह प्रतिपादन वक्ताकी विवक्षा और अविवक्षाके अनुसार होता है। वक्ता जिस समय जिस नयके द्वारा जिस धर्मका प्रतिपादन करना चाहता है वह धर्म और वह नय विवक्षित या मुख्य हो जाता है। उसके अतिरिक्त अन्य धर्म और अन्य नय अविवक्षित या गौण हो जाते हैं। वस्तुमें जो अनन्त धर्म विद्यमान रहते हैं वे परस्पर सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं। अस्तित्व धर्म अपने प्रतिपक्षी नास्तित्व धर्मका निराकरण न करके उसकी अपेक्षा रखता है। जहाँ अस्तित्व है वहाँ नास्तित्व भी अवश्य रहता है। यह बात दूसरी है कि कभी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्तित्व धर्म मुख्य हो जाता है और कभी गौण। यही बात अन्य धर्मोंके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

इन अनेक धर्मोंका प्रतिपादन स्याद्वादके द्वारा होता है। स्याद्वाद वचनरूप है और नय ज्ञानरूप है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। वक्ता अस्तित्व आदि धर्मोंका प्रतिपादन करनेके लिए स्याद्वादरूप वचनका आश्रय लेता है। स्यात्का अर्थ है कथंचित् और वादका अर्थ है कथन करना। जब किसी धर्मका कथन किसी अपेक्षासे किया जाता है तो वह कथन स्याद्वाद कहलाता है। जैसे यह वस्तु स्वरूपादिचतुष्टय की अपेक्षासे अस्तिरूप है और पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षासे नास्तिरूप है, इस प्रकारका कथन स्याद्वाद है। स्याद्वाद वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे एक समयमें एक धर्मका प्रतिपादन करता है। अस्तित्व आदि प्रत्येक धर्मका प्रतिपादन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षासे सात प्रकारसे किया जाता है। सात प्रकारसे प्रत्येक धर्मके प्रतिपादन करनेकी शैलीका नाम सप्तभंगी है। अर्थात् एक वस्तुमें अविरोधपूर्वक विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है।[१] वस्तुमें अनन्त धर्म पाये जाते हैं। इसलिए उन अनन्त धर्मोंकी अपेक्षासे वस्तुमें अनन्त सप्तभंगियाँ भी बन सकती हैं।

अस्तित्व आदि प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे भंग सात ही होते हैं, सातसे न कम होते हैं और न अधिक। वे सात भंग इस प्रकार हैं—१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्तिनास्ति, ४ स्यादवक्तव्य, ५ स्यादस्ति अवक्तव्य, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्य और ७ स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य।

उक्त सात भंगोंमें पहला, दूसरा और चौथा ये तीन मूल भंग हैं और शेष चार संयोगजन्य भंग हैं। क्योंकि ये मूल भंगोंके संयोगसे बनते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है, कि भंग सात ही क्यों होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

तत्त्व जिज्ञासु वस्तु तत्त्वके विषयमें सात प्रकारके प्रश्न करता है। सात प्रकारके प्रश्न करनेका कारण उसकी सात प्रकारकी जिज्ञासायें हैं। सात प्रकारकी जिज्ञासाओंका कारण उसके सात प्रकारके संशय हैं और सात प्रकारके संशयोंका कारण उनके विषयभूत वस्तुनिष्ठ सात प्रकारके धर्म हैं। यतः वस्तुनिष्ठ सत्त्व, एकत्व, नित्यत्व आदि धर्मोंके विषयमें सात प्रकारके प्रश्न होते हैं, अतः उनका उत्तर भी सात प्रकारसे दिया जाता है और ये सात प्रकारके उत्तर सप्तभंगी कहलाते हैं।

---

१. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्त्वन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी।
—तत्त्वार्थवार्तिक १/६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घटादि प्रत्येक वस्तु स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे अस्तिरूप हैं और पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षासे नास्तिरूप है। जब कोई वक्ता किसी एक समयमें वस्तुके अस्तित्व धर्मका प्रतिपादन करता हैं तब स्यादस्ति भंग बनता है और किसी दूसरे समयमें नास्तित्व धर्मका प्रतिपादन करनेपर स्यान्नास्ति भंग बनता है। जब वक्ता अस्तित्व धर्मके कथनके बाद ही नास्तित्व धर्मका कथन करता है तब वस्तु उभयरूप (अस्ति और नास्तिरूप) हो जाती है। किन्तु यदि कोई वक्ता इन दोनों धर्मोंका कथन एक समयमें एक साथ करना चाहे तो नहीं कर सकता है। क्योंकि शब्दोंके द्वारा एक समयमें एक ही धर्मका कथन हो सकता है। ऐसी स्थितिमें वही वस्तु स्यादवक्तव्य हो जाती है। वस्तुमें पहले स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा होनेसे और इसके बाद ही स्वरूपादिचतुष्टय और पररूपादि चतुष्टयकी युगपत् अपेक्षा होनेसे वस्तु स्यादस्ति अवक्तव्य हो जाती है। पहले पररूपादिचतुष्टय की अपेक्षा होनेसे और इसके बाद ही स्वरूपादिचतुष्टय और पररूपादिचतुष्टयकी युगपत् अपेक्षा होनेसे वस्तु स्यान्नास्ति अवक्तव्य हो जाती है। पहले क्रमशः स्वरूपादिचतुष्टय और पररूपादिचतुष्टयकी पृथक्-पृथक् अपेक्षा होनेसे तथा इसके बाद ही दोनोंकी युगपत् अपेक्षा होनेसे वस्तु स्यादस्ति-नास्ति अवक्तव्य हो जाती हैं। इस प्रकार नास्तित्व धर्म सापेक्ष अस्तित्व धर्मकी अपेक्षासे सप्तभंगी बनती हैं। इसी प्रकार एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि धर्मोंकी अपेक्षासे भी सप्तभंगी बना लेना चाहिए। इस प्रकार श्री नमि जिनने परस्पर सापेक्ष अनन्त धर्मात्मक वस्तुतत्त्वके प्रत्येक धर्मको स्याद्वादन्यायके द्वारा सप्तभंगरूप कहा है।

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे नमि जिन! प्राणियोंकी अहिंसा जगत्में परम ब्रह्मरूपसे प्रसिद्ध है। वह अहिंसा उस आश्रम-विधिमें नहीं है जिस आश्रम विधिमें अणुमात्र भी आरम्भ होता है। इसलिए उस परम ब्रह्मरूप अहिंसाकी सिद्धिके लिए परम दयालु आपने ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहको छोड़ा है। किन्तु जो विकृत वेष और उपधि (परिग्रह) में आसक्त हैं उन्होंने दोनों प्रकारके परिग्रहको नहीं छोड़ा है।

विशेषार्थ—यहाँ अहिंसाका महत्त्व बतलाया गया है। यद्यपि अन्य धर्मोंमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी अहिंसाका विधान है, किन्तु जैनधर्ममें अहिंसाका सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। प्राणियोंकी हिंसा न करना यह अहिंसाका सामान्य लक्षण है। हिंसा दो प्रकार की होती है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। किसी जीवका घात हो जाना यह द्रव्य हिंसा है और आत्मामें राग-द्वेषादि विकारी भावोंकी उत्पत्ति होना भाव-हिंसा है। जो व्यक्ति अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके द्वारा किसी जीव-का घात न होनेपर भी उसे हिंसाका दोष लगता है और यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवालेके द्वारा कदाचित् जीवका घात हो जानेपर भी हिंसा जन्य दोष नहीं लगता है[1]। अतः हिंसाके प्रकरणमें भाव हिंसाकी प्रधानता है, द्रव्य हिंसा की नहीं। आत्मामें रागादि दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति होना हिंसा है[2]। तात्पर्य यह है कि परिणामोंका रागादि दोषोंसे रहित होना आवश्यक है। जब परिणाम पवित्र होंगे तो द्रव्य हिंसाका त्याग स्वतः ही हो जायेगा। इस प्रकार अहिंसामें द्रव्य हिंसाके त्यागके साथ हो भाव हिंसाका त्याग होना भी आवश्यक है। ऐसा होनेपर ही अहिंसाकी पूर्णता होती है।

ऐसी अहिंसाको जगत्में परम ब्रह्म कहा गया है। परम ब्रह्मका अर्थ है—उत्कृष्ट आत्मस्वरूप। अहिंसा और परम ब्रह्म ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। अतः पूर्ण अहिंसाकी प्राप्ति ही परम ब्रह्मकी प्राप्ति है। उस परम ब्रह्म स्वरूप अहिंसाकी प्राप्तिके लिएं आरंभका त्याग अत्यावश्यक है। जिस आश्रम विधिमें थोड़ासा भी आरंभ होता है वहाँ अहिंसा कभी भी नहीं हो सकती है। हिन्दूधर्ममें ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रमके भेदसे चार प्रकारके आश्रम बतलाये गये हैं। इनमेंसे पहलेके दो आश्रमोंमें हिंसाका होना स्वाभाविक है। किन्तु वानप्रस्थ आश्रममें और सन्यास आश्रममें भी तरह-तरहका आरंभ देखा जाता है। इन आश्रमोंमें रहनेवाले लोगोंमें जलावगाहन, जटाधारण, कन्द-मूलादि भक्षण, पञ्चाग्नितप आदि क्रियायें देखी जाती हैं। वे लोग नाना प्रकारके विकृत वेष भी धारण करते हैं। सिर पर मयूरपिच्छ धारण करना, शरीरमें भस्म लपेटना, पीताम्बर या रक्ताम्बर धारण करना, मृगचर्म रखना, दण्ड, त्रिशूल आदि रखना। ये सब विकृत वेषके रूप हैं। इन सब कार्योंमें आरंभके

---

१. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥
—प्रवचनसार गाथा २१७

२. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ परिग्रह भी रहता ही है। ऐसी स्थितिमें इन आश्रमोंमें परम ब्रह्मस्वरूप अहिंसा कैसे संभव है। जैनधर्म की तो ऐसी मान्यता है कि जिस आश्रममें लेशमात्र भी आरंभ है वहाँ अहिंसा कभी भी नहीं हो सकती है।

श्री नमि जिन परम कारुणिक थे। यही कारण है कि उन्होंने परम ब्रह्म स्वरूप अहिंसा की सिद्धिके लिए धन, धान्यादि बाह्य और राग-द्वेषादि आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर दिया था। बाह्य परिग्रहका त्याग कर देने-पर भी आभ्यन्तर परिग्रहके त्याग बिना अहिंसा की पूर्णता नहीं होती है। अतः पूर्ण अहिंसा की प्राप्तिके लिए दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग आवश्यक है। श्री नमि जिनकी यह विशेषता है कि उन्होंने पूर्ण अहिंसा की सिद्धिके लिए दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर दिया था। जो अन्य लोग विकृत वेष और परिग्रहमें आसक्त हैं वे दोनों प्रकारके परिग्रहके त्याग करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। जो लोग जटाजूट, मयूरपिच्छ, भस्माच्छादन आदि विकृत वेष धारण करते हैं तथा वस्त्र, आभूषण, अक्षमाला, मृगचर्म, दण्ड, त्रिशूल आदि परिग्रह रखते हैं वे लोग बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग नहीं कर सकते हैं। और ऐसे लोगों द्वारा अहिंसारूप परम ब्रह्मकी सिद्धि कभी भी नहीं हो सकती है।

इस श्लोकके चतुर्थ चरणमें 'भवान्' के साथ 'एव' शब्दका प्रयोग यह बतलाता है कि श्री नमि जिनने ही दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग किया था, अन्य किसीने नहीं। अर्थात् जो व्यक्ति विकृतवेषोपधिरत हैं वह परिग्रहका त्याग नहीं कर सकता है। और इस कारण वह परम ब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं कर सकता है।

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्तकरणं
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातङ्कविजयम्।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ॥ ५ ॥ (१२०)

सामान्यार्थ—हे नमि जिन! आभूषण, वेष और वस्त्रादिके आवरणसे रहित तथा इन्द्रियोंकी शान्ततासे युक्त आपका नग्न दिगम्बर शरीर यह बतलाता है कि आपने कामदेवके बाणरूप विषसे उत्पन्न आतंक (व्याधि) को जीत लिया है और भयंकर शस्त्रोंके बिना ही निर्दय हृदय क्रोधका विनाश किया है। इस कारण आप निर्मोह तथा शान्तिके स्थान हैं। अतः आप हमारे शरणभूत हैं।

विशेषार्थ—यहाँ यह बतलाया गया है कि श्री नमि जिनका शरीर वीतरागताको प्रकट कर रहा है। श्री नमि जिनका शरीर कटक, कुण्डल, कटिसूत्र आदि अलंकारोंसे रहित है, जटाजूट, भस्माच्छादन आदि नाना प्रकारके वेषोंसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहित है तथा वस्त्रादिके आवरणसे रहित है। अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्राका धारक है। इसके साथ ही शरीर की स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन शान्त हो गये है। अर्थात् अपने-अपने विषयों की अभिलाषासे सर्वथा निवृत्त हो गये हैं। अतः श्री नमि जिनने अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्तकर ली है। इस प्रकारका श्री नमि जिनका शरीर यह प्रकट करता है कि उन्होंने कामदेवके बाणोंसे होनेवाली चित्तकी पीड़ाको अथवा प्रतिकार रहित व्याधिको जीत लिया है। संसारी मनुष्य कामके द्वारा उत्पन्न होनेवाले विकारको वस्त्रादिके आवरणसे छिपा लेता है। श्री नमि जिन तो नग्न दिगम्बर मुद्राके धारक हैं। उनके पास काम विकारको छिपानेका कोई साधन नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि उन्होंने कामके विकारपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। इसके साथ ही उन्होंने मनोविकार पर भी विजय प्राप्त कर ली है। क्योंकि जब पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं तब उनके द्वारा होनेवाला मनोविकार भी स्वतः समाप्त हो जाता है।

संसारी प्राणी क्रोधके वशीभूत होकर नाना प्रकारके अनर्थ करते हैं। वे भयंकर शस्त्रों द्वारा अपने शत्रुका नाश करके अपने क्रोधको शान्त करते हैं। किन्तु श्री नमि जिनने भयंकर शस्त्रोंके बिना ही निर्दय हृदय क्रोधको जीत लिया है। क्रोधका हृदय निर्दय होता है। इसीसे उसे किसीपर दया नहीं आती है। क्रोधके आवेशमें यह प्राणी आत्महत्या, परहत्या आदि अनेक प्रकारके अनर्थ करता रहता है। ऐसे भयंकर क्रोधको शस्त्रोंके बिना जीतना सरल नहीं है। फिर भी श्री नमि जिनने शस्त्रोंके बिना ही क्रूर क्रोधको जीत लिया है। इससे सिद्ध होता है कि श्री नमि जिन निर्मोह हैं। काम तथा क्रोधको उत्पन्न करनेवाला मोह ही है। काम तथा क्रोधपर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेनेके कारण श्री नमि जिन निर्मोह हैं और इसीलिए वे शान्तिके निलय हैं। वे सकल कर्म प्रक्षयरूप अथवा मुक्तिरूप शान्तिके स्थान हैं। ऐसे श्री नमि जिन हमारे शरणभूत हैं। हम भी निर्मोह होना और शान्ति को प्राप्त करना चाहते हैं। इसी कारण हमने श्री नमि जिन की शरण ली है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२२) श्री नेमि जिन स्तवन

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः ।
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य कमलायतेक्षणः ॥ १ ॥

हरिवंशकेतुरनवद्य–
विनयदमतीर्थनायकः ।
शीलजलधिरभवो विभव–
स्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—जो भगवान् हैं, ऋषि हैं, जिन्होंने परम योगरूप अग्निमें कर्मरूप इंधनको भस्म किया है, जिनके नेत्र खिले हुए कमलके समान विशाल हैं, जो हरिवंशके केतु हैं, जो निर्दोष विनय और दमरूप तीर्थके नायक हैं, जो शीलके समुद्र हैं और जो जरासे रहित हैं, ऐसे आप अरिष्टनेमि जिनेन्द्र ज्ञानरूप विपुल किरणोंके द्वारा समस्त लोकालोकको प्रकाशित करके संसारसे मुक्त हुए हैं।

विशेषार्थ—यहाँ श्री नेमि जिन की शारीरिक, कुल सम्बन्धी तथा आध्यात्मिक विशेषताओंका वर्णन किया गया है। शारीरिक विशेषताका वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि वे विकसित कमल दलके समान विशाल नेत्रोंके धारक थे और उनका शरीर जरासे रहित था। इसका कारण यह है कि तीर्थंकरका शरीर वार्द्धक्य जन्य विकारसे रहित होता है। उनकी कुल सम्बन्धी विशेषताका वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि उनके वंशका नाम हरिवंश था और वे हरिवंशके केतु (ध्वजा) थे। अर्थात् हरिवंशमें प्रधान थे। हरिवंश केतुका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि वे हरि (कृष्ण नारायण) के वंशके शिरोमणि थे। नेमिनाथ भगवान्‌का जन्म कृष्णके समय में हुआ था तथा वे कृष्णके चचेरे भाई थे।

श्री नेमि जिनकी आध्यात्मिक विशेषताओंका वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि उत्कृष्ट शुक्ल ध्यानरूप अग्निमें कर्मरूप इंधनको जलाकर वे कर्मकलंकसे रहित हो गये थे। वे भगवान्—विशिष्ट ज्ञानवान् थे अथवा इन्द्रादि तथा गणधरादि द्वारा पूज्य थे। ऋषि–अनेक ऋद्धियोंसे सम्पन्न थे और जिनकुञ्जर–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गणधरादि जिनोंके नायक थे। इतना ही नहीं, वे अनवद्य (निर्दोष) विनय और दमके तीर्थनायक थे। ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय (आचार्य आदिके प्रति समुचित व्यवहार करना) के भेदसे विनयके चार भेद होते हैं। पञ्चेन्द्रियोंको वशमें करने रूप दम पाँच प्रकारका है। श्री नेमि जिनने निर्दोष विनय और दमका प्रतिपादन किया था। अतः वे निर्दोष विनय और दमरूप आगमतीर्थके नायक हैं। वे शीलके समुद्र हैं। अर्थात् अठारह हजार शीलके भेद उनमें पूर्णताको प्राप्त हुए हैं। ऐसे श्री नेमि जिनेन्द्र अपनी केवलज्ञानरूप विस्तृत किरणोंके द्वारा समस्त लोक और अलोकको प्रकाशित करके (जान करके) अन्तमें विभव (संसारमुक्त) हुए हैं।

स्तुतिकारने बाईसवें तीर्थङ्करका नाम अरिष्टनेमि बतलाया है। संस्कृत टीकाकारने अरिष्टनेमि शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—'अरिष्टानां कर्मणां नेमिश्चक्रधारा।' अर्थात् कर्मोंके लिए जो चक्रधारा (चक्रकी धार) हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने समाधिचक्रके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाशकर दिया है, ऐसे थे श्री अरिष्टनेमि जिनेन्द्र। वर्तमानमें उनका नाम नेमिनाथ प्रचलित है।

यहाँ शीलके अठारह हजार भेदोंको जान लेना आवश्यक है। छहढालामें बतलाया गया है कि शीलके अठारह हजार भेद होते हैं।[1] मूलाचारमें विस्तारसे इन भेदोंका विवेचन किया गया है[2] जो इस प्रकार है—

३ करणोंका ३ योगोंके द्वारा गुणा करने पर ३ × ३ = ९ भेद हुए। पुनः ४ संज्ञाओं से ९ में गुणा करने पर ९ × ४ = ३६ भेद हुए। ३६ में ५ इन्द्रियोंसे गुणा करनेपर ३६ × ५ = १८० भेद हुए। पुनः १८० में पृथिवी काय आदि १० कायों (पृथिवी आदि ४, वनस्पतिकाय २(प्रत्येक और साधारण) त्रसकाय ४) से गुणा करने पर १८० × १० = १८०० भेद हुए। इनमें उत्तमक्षमादि १० धर्मोंसे गुणा करने पर १८०० × १० = १८००० भेद हुए। इस प्रकार शीलके अठारह हजार भेद होते हैं।

---

१. अठदशसहस विध शील धर चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं।

—छहढाला ६/१

२. जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं॥

—मूलाचार, शीलगुणाधिकार गाथा २

योगा करणानि संज्ञा इन्द्रियाणि भ्वादयः श्रमणधर्माश्च।
अन्योन्यै रभ्यस्ता अष्टादशशीलसहस्राणि॥ —संस्कृत छाया

११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलाचारमें यह भी बतलाया गया है कि अब्रह्म (मैथुन) के कारणरूप १० विकल्प होते हैं जो इस प्रकार हैं—१. स्त्रीसंसर्ग, २. प्रणीतरसभोजन, ३. गंधमाल्यसंस्पर्श, ४. शयनासन, ५. आभूषण, ६. गीतवादित्र, ७. अर्थसंप्रयोग, ८. कुशीलसंसर्ग, ९. राजसेवा और १० रात्रिसंचरण। इन दस बातोंके द्वारा शीलकी विराधना होती है। अतः इनका त्याग करना चाहिए। शीलके विषयमें विस्तारसे विचार करनेके लिए मूलाचारमें शीलगुणाधिकार नामक एक पृथक् अधिकार है।

छहढालाके एक टिप्पणमें शीलके भेद इस प्रकार बतलाये गये हैं—मैथुन कर्मके १० भेद हैं तथा उनमेंसे प्रत्येककी १० अवस्थायें होती हैं। इनका परस्पर-में गुणा करनेपर १०×१०=१०० भेद होते हैं। वह मैथुन ५ इन्द्रियोंसे किया जाता है। अतः १००×५=५०० भेद हुए। इनमें तीन योगोंसे गुणा करने पर ५००×३=४५०० भेद हुए। ये भेद जाग्रत तथा स्वप्न दोनों अवस्थाओंमें होनेसे ४५००×२=९००० भेद हुए। ये भेद चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकारकी स्त्रियोंमें होनेसे ९०००×२=१८००० होते हैं। ये सब कुशील-के भेद हैं और उक्त सब भेदोंका त्याग हो जाने पर शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। ये भेद समझनेमें सरल हैं।

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम् ।
पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ।। ३ ।।
नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः ।। ४ ।।

सामान्यार्थ—हे नेमि जिन ! जो अपने हितसाधनमें दत्तचित्त हैं, जो उत्तम बुद्धिके धारक हैं और जो स्तुतिरूप मंत्रसे मुखर (वाचाल) हैं, ऐसे गणधरादि बड़े-बड़े ऋषि आपके उस चरण युगलको प्रणाम करते हैं, जो चरण युगल देवेन्द्रोंके मुकुटोंकी मणियों और रत्नोंकी किरणोंके प्रसारसे चुम्बित है, निर्मल है, जिनका तलभाग विकसित कमल दलके समान रक्तवर्ण है और जिनकी अँगुलियोंके उन्नत प्रदेशका अग्रभाग नखरूप चन्द्रमाकी किरणोंके परिमण्डलसे अत्यन्त सुन्दर मालूम हो रहा है।

विशेषार्थ—यहाँ श्री नेमि जिनके चरणयुगलकी विशेषताको बतलाया गया है। मोक्षरूप स्वार्थके साधनमें जिनका मन लगा हुआ है और जो उत्तम बुद्धिके धारक हैं ऐसे गणधरादि महर्षि 'णमो णेमि जिणाणं' इस सात अक्षरवाले मंत्रका अथवा सामान्य स्तुतिरूप मंत्रका पाठ करते हुए श्री नेमि जिनके पवित्र चरण-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युगलको सदा प्रणाम करते रहते हैं। जब इन्द्र श्री नेमि जिनके चरणोंमें अपना मस्तक झुकाता है तब उसके मुकुटमें लगे हुए मणियों और रत्नोंकी किरणोंका समूह उनके चरणोंपर फैल जाता है, जिससे उनके चरणोंकी शोभा और अधिक बढ़ जाती है। चरणोंका तल भाग खिले हुए कमल पत्रके समान लाल है और अँगुलियोंके जो नख हैं वे ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे चन्द्रमा चमक रहे हों। अतः जब नखरूप चन्द्रमाकी किरणें अँगुलियोंके उन्नत अग्रभाग पर पड़ती हैं तब वे परिमण्डलाकारमें परिणत होकर अँगुलियोंके स्थानको अत्यन्त मनोहर बना देती हैं। इस प्रकार यहाँ श्री नेमि जिनके चरणयुगलकी मनोहारी छविका वर्णन किया गया है।

द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः ।
नीलजलजदलराशिवपुः सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥ ५ ॥
हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविन्दयुगलं प्रणेमतुः ॥ ६ ॥

सामान्यार्थ—जिनके शरीरका कान्तिमण्डल कान्तिमान सुदर्शनचक्ररूप सूर्यबिम्बकी किरणोंसे व्याप्त हो रहा है, जिनका शरीर नीले कमल दलों (पत्तों) की राशिके समान श्यामवर्ण है, जिनकी ध्वजामें गरुड़का चिह्न है, तथा जो तीन खण्ड पृथिवीके स्वामी हैं ऐसे श्रीकृष्ण और हल नामक शस्त्रके धारी बलराम इन दोनों लोकनायकोंने, जिनके चित्त स्वजनभक्तिसे प्रसन्न हो रहे थे और जो धर्मरूप विनयके रसिक थे, आपके चरण कमलोंके युगलको अपने अन्य भाइयोंके साथ बार-बार प्रणाम किया था।

विशेषार्थ—श्री अरिष्टनेमि जिनके पिता समुद्रविजय दस भाई थे। इनमें समुद्रविजय सबसे बड़े थे। श्रीकृष्ण तथा बलरामके पिता वसुदेव सबसे छोटे थे। श्रीकृष्ण नारायण थे और बलराम बलभद्र थे तथा श्री नेमि जिन उनके चचेरे भाई थे। श्रीकृष्ण और बलराम दोनों ही लोकनायक थे, धर्मकी विनयके रसिक थे और तीर्थङ्करके रूपमें अपने भाई श्री अरिष्टनेमिको प्रतिष्ठाको देखकर उनके हृदय अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे। ऐसे इन दोनों भाइयोंने अपने अन्य भाइयोंके साथ भगवान् अरिष्टनेमिके चरणकमलोंको बार-बार प्रणाम किया था।

श्रीकृष्ण नारायण होनेके कारण रथाङ्ग (सुदर्शनचक्र) के धारी थे। वह सुदर्शनचक्र सूर्यमण्डलके समान दैदीप्यमान था। श्रीकृष्णका शरीर स्वयं कान्तिमान था, किन्तु कान्तिमान सुदर्शनचक्ररूप सूर्यबिम्बकी किरणोंके शरीरपर पड़नेसे वह और भी अधिक कान्तिमान हो गया था। पाँचवें श्लोकमें 'अंशु-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मण्डल:' के स्थानमें 'अंसमण्डल:' ऐसा भी एक पाठ हैं। अंसका अर्थ है—कन्धा। अतः इस पाठके अनुसार कान्तिमान सुदर्शनचक्ररूप सूर्यबिम्बकी किरणोंसे जिनके कन्धोंका प्रदेश व्याप्त हो रहा है, ऐसा अर्थ करना चाहिए। श्रीकृष्णके शरीरका वर्ण बतलानेके लिए कहा गया है कि उनका शरीर नीले कमल पत्रोंकी राशि (समूह) के समान श्याम था।

श्रीकृष्णकी ध्वजामें गरुड़का चिह्न होनेके कारण उनको गरुड़केतु भी कहते हैं। नारायण होनेके कारण श्रीकृष्ण तीन खण्ड पृथिवीके स्वामी थे। इस प्रकार यहाँ श्री अरिष्टनेमि जिनके चचेरे भाई श्रीकृष्णकी शारीरिक तथा लौकिक अनेक विशेषताओंका वर्णन किया गया है। श्रीकृष्णके भाईका नाम बलराम था, जो बलभद्र थे और हल नामक शस्त्रके धारी थे। इसीलिए उनको हलधर भी कहते हैं। ऐसे इन दोनों भाइयोंने अपने अन्य भाइयोंके साथ गिरनार पर्वतपर जाकर अपने भाई तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिको बारम्बार प्रणाम किया था।

पाँचवें श्लोककी द्वितीय पंक्तिमें 'नीलजलजदलराशिवपुः' के स्थानमें 'नीलजलदजलराशिवपुः' ऐसा भी एक पाठ है। इस पाठमें वपुका सम्बन्ध नीलजलद (नीले मेघ) और जलराशि (समुद्र) इन दो पदोंके साथ लगाना पड़ता है। तब इस पाठका अर्थ इस प्रकार होता है—जिनका शरीर नीले मेघ और समुद्रके समान श्याम वर्ण है। इन दोनों पाठोंमेंसे प्रथम पाठ अधिक संगत मालूम पड़ता है। क्योंकि इस पाठमें वपुका सम्बन्ध 'नीलजलजदलराशि' पदके साथ आसानीसे लग जाता है।

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलङ्कृतः।
मेघपटलपरिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥ ७ ॥
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च।
प्रीतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥ ८ ॥

सामान्यार्थ—जो पृथिवीका ककुद है, जो विद्याधरोंकी स्त्रियों द्वारा सेवित शिखरोंसे अलंकृत है और जिसके तट मेघ पटलोंसे घिरे रहते हैं, ऐसा लोकप्रसिद्ध ऊर्जयन्त (गिरनार) नामक पर्वत है, जो इन्द्र द्वारा लिखे गये आपके चिह्नोंको धारण करता है, इसलिए तीर्थस्थान है और वह आज भी भक्तिसे उल्लसित हृदयवाले ऋषियों द्वारा सब ओरसे निरन्तर अत्यधिक सेवित है।

विशेषार्थ—यहाँ उस ऊर्जयन्त पर्वतका वर्णन किया गया है जहाँ पहुँचकर श्री नेमि जिनने दिगम्बरी दीक्षा धारण की थी, तपस्या की थी और अन्तमें मोक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त किया था। गुजरातके सौराष्ट्र प्रदेशमें ऊर्जयन्त नामक एक पर्वत है जिसे वर्तमानमें गिरनार कहते हैं। यह पर्वत श्री नेमि जिनके चरणोंसे अनेक बार पवित्र हुआ है। यह पर्वत पृथिवीका ककुद है। बैलके कन्धेके ऊपरी भागको ककुद कहते हैं। जिस प्रकार ककुद शरीरके सब अवयवोंके ऊपर स्थित होनेसे शोभाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार ऊर्जयन्त पर्वत पृथिवीके ऊपरी भाग पर स्थित होनेके कारण ऐसा मालूम पड़ता है मानों वह पृथिवीका ककुद हो। उस पर्वतके शिखरों पर विद्याधरोंकी स्त्रियाँ क्रीड़ा किया करती हैं, उसके तट (शिखर प्रदेश) मेघोंके समूहसे व्याप्त रहते हैं तथा उस पर्वतपर इन्द्रने श्री अरिष्टनेमि जिनके चिह्नोंको तथा यश-प्रशस्तियोंको अथवा शिलालेखोंको वज्र-द्वारा उत्कीर्ण किया था। इसलिए वह पर्वत लोकमें तीर्थ माना जाता है और इसी कारण बड़े-बड़े ऋषि सदासे उस पर्वतकी सेवा करते आ रहे हैं तथा आज भी भक्तिसे उल्लसित हृदयवाले आत्मकल्याणके इच्छुक लोग सब ओरसे आकर उस पर्वतकी सेवा करते हैं। उस पर्वत पर भगवान् अरिष्टनेमिका समवसरण अनेकों बार आया था और श्रीकृष्ण तथा बलरामने अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ वहाँ पहुँचकर भक्तिपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें बारम्बार प्रणाम किया था।

यहाँ यह ज्ञात नहीं हो रहा है कि इन्द्रने ऊर्जयन्त पर्वत पर नेमिनाथ भगवान्‌के कौनसे चिह्न लिखे या उत्कीर्ण किये थे। सम्भवतः इन्द्रने श्री नेमि जिनके चरणचिह्न उत्कीर्ण किये हों अथवा उपदेश सम्बन्धी कोई शिलालेख लिखे हों। यह भी सम्भव है भगवान् नेमिनाथके विषयमें कुछ प्रशस्तियाँ उत्कीर्ण की हों।

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्।
नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद् विवेदिथ॥ ९॥

अतएव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्॥१०॥
(१३०)

सामान्यार्थ—हे नाथ, आपने सम्पूर्ण विश्वको सदा करतल स्थित स्फटिक मणिके समान युगपत् जाना है और इस ज्ञानमें बाह्य करण चक्षुरादि और अन्तः-करण मन न तो पृथक्-पृथक् और न एक साथ मिल करके न तो कोई विघात (बाधा) उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही करते हैं। इसी-लिए विद्वानों द्वारा स्तुत आपके आश्चर्यकारक अभ्युदयसे सहित तथा न्याय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विहित (आगम द्वारा प्रसिद्ध) चरितगुण (माहात्म्य विशेष) को अच्छी तरह जानकर हम बड़े प्रसन्न चित्तसे आपमें स्थित हुए हैं।

विशेषार्थ—यहाँ श्री नेमि जिनके ज्ञानगुणकी विशेषताको बतलाया गया है। श्री नेमि जिन अपने केवलज्ञानरूप अतीन्द्रिय ज्ञानके द्वारा विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों सहित एक साथ जानते हैं। जिस प्रकार हाथ पर रखी हुई स्फटिकमणिका प्रत्येक भाग सब ओरसे एक साथ स्पष्ट दिखता है, उसी प्रकार श्री नेमि जिनके केवलज्ञानमें विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ युगपत् झलकते हैं। यहाँ मीमांसक शंका कर सकता है कि संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान एक साथ संभव नहीं है। कोई भी ज्ञान इन्द्रियजन्य ही होता है और उसके द्वारा इन्द्रियसम्बद्ध वर्तमान अर्थको ही जाना जाता है।

मीमांसककी उक्त प्रकारकी शंका ठीक नहीं है। इन्द्रिय जन्य ज्ञानके अतिरिक्त एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी है जो आत्ममात्र सापेक्ष होता है। श्री नेमि जिनका सकल पदार्थ साक्षात्कारी ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है। स्पर्शनादि पाँच बाह्य इन्द्रियाँ और मन (अन्तरंग इन्द्रिय) अतीन्द्रियज्ञानके बाधक नहीं हैं और न ये अतीन्द्रिय ज्ञानका उपकार ही करते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानमें इन्द्रियोंकी कोई अपेक्षा ही नहीं होती है। इस कारण इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय ज्ञानमें बाधक कैसे हो सकती हैं। उनकी अपेक्षाके अभावमें वे अतीन्द्रिय ज्ञानकी उपकारक भी नहीं हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय जन्य होनेके कारण परोक्ष ज्ञान हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीनों ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष होनेसे अतीन्द्रिय ज्ञान (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) हैं। इनमेंसे समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको विषय करनेके कारण केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। तथा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान कुछ पदार्थोंको विषय करनेके कारण विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं। किन्तु केवलज्ञानकी तरह अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान भी अपये विषयमें पूर्णरूपसे विशद होते हैं। अतः ये तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

श्री नेमि जिन केवलज्ञान सम्पन्न हैं। इसलिए बड़े-बड़े विद्वान् उनकी स्तुति करते हैं। श्री नेमि जिनने आगममें प्रतिपादित विधिके अनुसार तपश्चर्या आदि क्रियाओंका अनुष्ठान किया था और इस अनुष्ठानके द्वारा केवलज्ञानरूप अन्तरंग विभूति तथा समवसरणादिरूप बहिरंग विभूतिके आश्चर्यजनक अभ्युदयको प्राप्त किया था। श्री नेमि जिनके ऐसे चरित (अनुष्ठान) के निर्विघ्न स्वकार्यप्रसाधक गुणको जानकर हम भी अत्यधिक प्रसन्न मनसे श्री नेमि जिनमें स्थित हुए हैं। हम श्री नेमि जिनकी शरणमें इसलिए आये हैं जिससे कि उनके आश्रयसे हम भी उसी प्रकारका अनुष्ठान करके आश्चर्यजनक अभ्युदयके पात्र बन सकें। ●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२३) श्री पार्श्व जिन स्तवन

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः
प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः ।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रितो
महामना यो न चचाल योगतः ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—तमाल वृक्षके समान नील वर्णयुक्त, इन्द्रधनुषों सम्बन्धी विजलीरूपी डोरियोंसे सहित, भयंकर वज्र, आँधी और वर्षाको बिखेरनेवाले तथा शत्रुके वशीभूत मेघोंके द्वारा उपद्रव ग्रस्त होने पर भी जो महामना पार्श्व जिन योगसे विचलित नहीं हुए ।

विशेषार्थ—भगवान् पार्श्वनाथका जन्म वाराणसीमें हुआ था । श्री पार्श्व जिन कुमारावस्थामें एक बार अपने मित्रोंके साथ भ्रमण करते हुए वाराणसोके निकट एक उपवनमें पहुँचे । वहाँ पूर्वभवोंका वैरी कमठका जीव एक तपस्वीके रूपमें पञ्चाग्नि तप कर रहा था[१] । चारों ओर अग्नि जलाकर तथा उसके बीच-में बैठकर और ऊपर सूर्य की ओर दृष्टि करके जो तप किया जाता है उसे पञ्चाग्नि तप कहते हैं । पञ्चाग्नि तपके लिए जो लकड़ियाँ जल रही थीं उनमें से एक लड़कीके भीतर बैठें नाग और नागिन भी जल रहे थे । श्रो पार्श्व जिनने अवधिज्ञानसे इस बातको जानकर तपस्वीसे कहा कि हिंसामय तप क्यों कर रहे हो । इस लकड़ीके अन्दर नाग और नागिन जल रहे हैं । इस बातको सुनकर तपस्वी क्रोधित होकर बोला कि ऐसा नहीं हो सकता है । आपने कैसे जाना कि इसके भीतर नाग और नागिन हैं । तब कुल्हाड़ी मगाकर लकड़ीको काटा गया और पार्श्वकुमारने जलती हुई लकड़ीसे अधजले नाग-नागिन को बाहर निकाला । तथा कुछ क्षण बाद पार्श्वनाथके सान्निध्यमें नाग-नागिनकी मृत्यु हो गई । संभवतः इस कारण वे मृत्युके बाद भवनवासी देवोंमें धरणेन्द्र और पद्मावती हुए । क्योंकि श्री वादिराजसूरि रचित पार्श्वनाथचरितमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि पार्श्व-कुमारने अर्धदग्ध नाग-नागिनको णमोकार मन्त्र सुनाया था । अन्य किसी प्राचीन

---

१. ज्वलदतिबहलाग्निमध्यवर्ती ।
रविगतदृष्टितया तपश्चरिष्णुः ॥ ६५ ॥
—पार्श्वनाथचरित दशम सर्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थमें भी उक्त आशयका उल्लेख नहीं मिलता है। इधर श्री पार्श्व जिन की इस बातसे तपस्वी क्रोधित हो गया कि इन्होंने मेरी तपस्यामें विघ्न उपस्थित कर दिया है। वह पूर्वभवोंका वैरी तो था ही, किन्तु इस घटनासे उसने श्री पार्श्व जिनके साथ और भी अधिक वैर बांध लिया। तथा कुछ कालके बाद वह मरकर गुणभद्राचार्यके अनुसार शम्बर नामक ज्योतिषी देव हुआ[१]। किन्तु श्री वादिराज सूरिके अनुसार वह भूतानन्द नामक भवनवासी देव हुआ।[२]

इसी प्रकार नाग-नागिनकी मृत्युके विषयमें भी मतभेद है। श्री वादिराज-सूरिके अनुसार नाग-नागिनकी मृत्यु जलती हुई लकड़ीके अन्दर जल जानेसे हुई थी।[३] किन्तु गुणभद्राचार्यके अनुसार पञ्चाग्नि तपमें लीन तपस्वीके द्वारा अग्निमें डालनेके लिए लकड़ीको काटते समय उसमें बैठे हुए नाग-नागिनके दो टुकड़े हो जानेसे उनकी मृत्यु हुई थी[४], जलनेसे नहीं। इससे प्रतीत होता है कि नाग-नागिन की मृत्युके विषयमें प्राचीनकालमें दो प्रकारकी विचारधारा प्रचलित रही होगी।

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं
स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं
विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—उपसर्गसे युक्त पार्श्वनाथको धरणेन्द्र नामक नागकुमार जाति-के देवने नागका रूप धारण करके बिजलीके समान पीली कान्तिसे युक्त बड़े-बड़े

१. सशल्यो मृतिमासाद्य शम्बरो ज्योतिषामरः।
—उत्तरपुराण पर्व, ७३/११७

२. लक्ष्मीधाम श्रीजिनधर्मादपि बाह्यः
कायक्लेशादायुरपाये स तपस्वी।
देवो जातः ज्ञातिमयासीदपि नाम्ना
भूतानन्दो भवनदेवेष्वसुरेषु ॥
—पार्श्वनाथचरित, १०/८८

३. प्रहसितवदनाम्बुजस्तदुक्त्या भुवनगुरुर्भगवांस्तु तत्प्रतीत्यै।
अदलयदनलार्धदग्धमेधः परिदृढमुष्टिपरस्वधेन तेन ॥
—पार्श्वनाथचरित, १०/८३

४. नागी नागश्च तच्छेदाद् द्विधाखण्डमुपागतौ।
—उत्तरपुराण पर्व ७३/१०३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फणोंके मण्डलरूप मण्डपके द्वारा उसी प्रकार वेष्टित कर लिया था जिस प्रकार विराग (कृष्ण) संध्यामें बिजलीसे युक्त मेघ पर्वतको वेष्टित कर लेता है।

विशेषार्थ—जब पूर्व वैरी कमठके जीव शम्बर नामक देवने ध्यानमग्न भगवान् पार्श्वनाथ पर भयंकर उपसर्ग किया तब पूर्वकृत उपकारके कारण धरणेन्द्र नामक भवनवासी नागकुमार जातिके देवने विक्रिया द्वारा एक नागका रूप बनाया। उस नागके अनेक बड़े-बड़े फण थे। उसने उन फणोंके मण्डलाकार मण्डपके द्वारा भगवान् पार्श्वनाथ पर छाया कर ली, जिससे भयंकर आँधी और वर्षा आदिका उपसर्ग भगवान् पार्श्वनाथको ध्यानसे विचलित नहीं कर सका। श्री पार्श्व जिन महामना तो थे ही, साथ ही उपसर्ग निवारणमें धरणेन्द्रने भी सहयोग किया था। उस फणामण्डलरूप मण्डपने भगवान् पार्श्वनाथको उसी प्रकार वेष्टित कर लिया था जिस प्रकार काली सन्ध्याके समय बिजलीसे युक्त मेघ पर्वतको वेष्टित कर लेता है। अथवा विविध रंगों वाली सन्ध्याके समय बिजलीसे युक्त मेघ पर्वतको वेष्टित कर लेता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस श्लोकमें केवल धरणेन्द्रका नाम आया है। पद्मावतीका नाम कहीं नहीं है। अतः उपसर्गके समय पद्मावती देवीने भगवान् पार्श्वनाथको अपने सिर पर विराजमान कर लिया था, ऐसी जो मान्यता है वह सर्वथा निराधार है। इसी गलत मान्यताके आधार पर अपने सिर पर भगवान् पार्श्वनाथको बैठाये हुए पद्मावती देवीकी मूर्तियोंके निर्माण की परम्परा पता नहीं कबसे चालू हुई है। जैनागममें स्त्रीको साधुसे सात हाथ दूर रहनेका विधान है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि पद्मावतीने अपने सिर पर पार्श्वनाथ भगवान्‌को कैसे बैठा लिया।

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया
निशात्य जो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं
त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—जिन्होंने अपने योगरूप तलवार की तीक्ष्ण धारसे दुर्जय मोहरूप शत्रुको नष्ट करके उस आर्हन्त्य पदको प्राप्त किया था, जो अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोक की पूजाके अतिशयका स्थान है।

विशेषार्थ—शम्बर नामक देवकृत उपसर्गके अनन्तर भगवान् पार्श्वनाथने परम शुक्लध्यानरूप खड्ग की तीक्ष्ण धारसे मोहरूप शत्रुको नष्ट कर दिया था। यहाँ मोह शब्द उपलक्षण है। अतः मोह शब्दके द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अन्तरायका भी ग्रहण करना चाहिए। योगाभ्यास करते-करते परम प्रकर्षको प्राप्त शुक्ल ध्यानके द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेपर श्रीपार्श्व जिनने अर्हन्त पदको प्राप्त कर लिया था। अर्हन्त पद अचिन्त्यनीय हैं। अल्पज्ञ प्राणी इसके विषयमें विचार ही नहीं कर सकते। समवसरणादि विभूतिके कारण अर्हन्त पद सब प्राणियोंके लिए आश्चर्यजनक है तथा त्रिलोकवर्ती शत इन्द्रोंके द्वारा पूजित होनेके कारण पूजाके अतिशय (परम प्रकर्ष) का स्थान है।

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं
तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमबन्ध्यबुद्धयः
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—जिन पार्श्वनाथ भगवान्‌को घातिकर्मचतुष्टयरूप पापसे रहित, मोक्षमार्गके उपदेशक और समस्त लोकके ईश्वरके रूपमें देखकर वे वनवासी तपस्वी भी भगवान् पार्श्वनाथ को शरणको प्राप्त हुए थे, जो अपने श्रममें निष्फल बुद्धि हो गये थे और जो पार्श्व जिनके समान होनेके इच्छुक थे।

विशेषार्थ—यहाँ यह बतलाया गया है कि श्री पार्श्व जिनके माहात्म्यसे प्रभावित होकर अन्य मतावलम्बी तपस्वी भी भगवान् पार्श्वनाथ की शरणको प्राप्त हुए थे। श्री पार्श्व जिन चार घातिया कर्मोंका क्षय करके ईश्वर (त्रिलोक पूज्य) हो गये थे तथा समवसरणमें विराजमान होकर मोक्षमार्गका उपदेश करने लगे थे। क्योंकि मोक्षमार्ग पर चलनेसे प्राणियोंके समस्त रागादि विकारों-का उपशम हो जाता है और अन्तमें परिभ्रमणरूप संसारका भी अन्त हो जाता है।

भगवान् पार्श्वनाथके समयमें अन्यमतावलम्बी वनवासी तपस्वी भी अपने-अपने मतके अनुसार तपस्या करते थे। कोई पञ्चाग्नि तपमें निमग्न था, कोई एक हाथ ऊपर उठाकर तप करता था और कोई जलके बीचमें खड़े होकर तपस्या करता था। इत्यादि प्रकार की विविध तपस्याओंको करते हुए भी उन्हें किसी फलकी प्राप्ति नहीं हुई थी। इस प्रकार वे अपने तपस्या रूप श्रम (प्रयास) में निष्फल हो गये थे। किन्तु वे भगवान् पार्श्वनाथके समान ही निष्कलंक बनना चाहते थे। उनके मनमें ऐसी इच्छा हुई कि हम भी श्री पार्श्व जिन द्वारा बतलाये हुए मार्ग पर चलकर उन्हीं जैसा बन जावें। यही सब सोचकर अन्य मतावलम्बी अनेक साधु अपने मिथ्या तपको छोड़कर भगवान् पार्श्वनाथके अनुयायी बन गये थे। भगवान् पार्श्वनाथका ऐसा अचिन्त्य माहात्म्य था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः
समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते
विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ॥ ५ ॥ (१३५)

सामान्यार्थ—जो सत्य विद्याओं और तपस्याओंके प्रणेता हैं, पूर्णबुद्धि (सर्वज्ञ) हैं, उग्रवंश रूप आकाशके चन्द्रमा हैं और जिन्होंने मिथ्यादर्शनादि रूप कुमार्ग-दृष्टियोसे उत्पन्न विभ्रमोंको नष्ट कर दिया है, वे पार्श्व जिनेन्द्र मेरे द्वारा सदा प्रणाम किये जाते हैं ।

विशेषार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) थे । इस कारण वे समीचीन विद्याओं और तपस्याओंके प्रणेता थे । कोई भी विद्या या ज्ञान सत्य हो सकता है और मिथ्या भी हो सकता है । इसी प्रकार तपस्या भी समीचीन और मिथ्या होती है । मिथ्यादृष्टिका ज्ञान मिथ्याज्ञान है और सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । अज्ञानपूर्वक किया गया पञ्चाग्नि तप आदि कुतप या मिथ्या तप है और धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानपूर्वक किया गया तप सम्यक् तप या सम्यक् चारित्र है । श्री पार्श्व जिन पूर्ण ज्ञानी थे । इसलिए उन्होंने लोगोंके मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्ग सम्बन्धी दृष्टियों के विभ्रमोंको दूरकर उन्हें सम्यग्दृष्टि बनाया था । वस्तु सर्वथा नित्य है या सर्वथा क्षणिक है, इत्यादि प्रकारका विभ्रम (सर्वथैकान्तरूप ज्ञान) मिथ्यादर्शनके कारण होता है । श्री पार्श्व जिनने अपने उपदेशोंके द्वारा जीवोंके विभ्रमके कारण मिथ्यादर्शनको दूर कर दिया था । इसका तात्पर्य यह है कि भव्य जीव भगवान् पार्श्वनाथके द्वारा सम्यग्दर्शनादिरूप उपदेशको प्राप्त करके अनेकान्तदर्शी बनकर सर्वथैकान्तदृष्टिरूप विभ्रम से मुक्त हो गये थे । इस प्रकार श्री पार्श्व जिन सम्यग्दर्शन, सत्य विद्या (सम्यग्ज्ञान) और सत्य तप (सम्यक्चारित्र) के प्रणेता थे ।

भगवान् पार्श्वनाथके वंशका नाम उग्रवंश था । वे उग्रवंशरूपआकाशके चन्द्रमा थे । उन्होंने अपने द्वारा उग्रवंशको उसी प्रकार प्रकाशित किया था जिस प्रकार चन्द्रमा आकाशको प्रकाशित करता है । ऐसे उक्त गुणोंसे विशिष्ट भगवान् पार्श्वनाथको मैं (स्तुतिकार) प्रणाम करता हूँ । यहाँ प्रणाम करनेका प्रयोजन यह है कि मैं मोक्षका इच्छुक हूँ और मोक्षको प्राप्तिके लिए श्री पार्श्व जिनकी शरणमें आया हूँ । उनके प्रसादसे मुझे मोक्षकी प्राप्ति हो, ऐसी मेरी भावना है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२४) श्री वीर जिन स्तवन

कीर्त्या भुवि भासि तया वीर त्वं गुणसमुत्थया भासितया ।
भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ।। १ ।।

सामान्यार्थ—हे वीर जिनेन्द्र ! आप गुणों से समुत्पन्न निर्मल कीर्तिसे पृथिवी पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार चन्द्रमा आकाशमें कुन्द पुष्पोंकी शोभाके समान सब ओरसे धवल और नक्षत्रोंकी सभामें स्थित (व्याप्त) कान्तिसे शोभित होता है ।

विशेषार्थ—चौबीसवें तीर्थंकरका नाम वीर है । इनके वर्द्धमान, महावीर, सन्मति और अतिवीर ये अन्य चार नाम भी प्रचलित हैं । श्री वीर जिनमें आध्यात्मिक और शारीरिक दोनों प्रकारके गुण विद्यमान थे । उनकी आत्मा सम्यग्दर्शनादि अथवा अनन्तज्ञानादि गुणोंसे और शरीर श्वेत रुधिर, निःस्वेदत्वादि गुणोंसे युक्त था । इन सब गुणोंके कारण उनकी ख्याति इस भूतल पर सर्वत्र फैल रही थी । आकाशमें स्थित चन्द्रमा की कान्ति कुन्द पुष्पके समान धवल होती है और वह नक्षत्रों की सभा (समूह) में व्याप्त रहती है । अतः जिस प्रकार चन्द्रमा आकाशमें उक्त प्रकार का कान्तिसे शोभित होता है उसी प्रकार श्री वीर जिनेन्द्र अपने गुणोंसे उत्पन्न उज्ज्वल कीर्तिसे इस भूतल पर सुशोभित हुए हैं । यहाँ उक्त श्लोकमें 'उडुसभासितया' तथा 'कुन्दशोभासितया' इन दोनों शब्दोंमें आसित शब्द आया है । उडुसभासितमें आसितका अर्थ है—स्थित (व्याप्त) और कुन्दशोभासितमें आसितका अर्थ है—सब ओरसे धवल ।

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशासनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ।। २ ।।

सामान्यार्थ—हे वीर जिन ! गुणोंके अनुशासनसे भव्य जीवोंके भवको नष्ट करनेवाले आपके शासनका माहात्म्य इस कलिकालमें भी जयवन्त है । अपनी प्रभा (ज्ञानादि तेज) से लोक प्रसिद्ध हरिहरादि स्वामियोंको कृश (महत्त्वहीन) करनेवाले तथा दोषरूप कशा (चाबुक) के असन (निराकरण) करनेमें समर्थ गणधरादि देव आपके इस शासनके माहात्म्यकी स्तुति करते हैं ।

विशेषार्थ—ईसापूर्व छठी शताब्दीमें श्री वीर जिनेन्द्रका जन्म हुआ था । उन्होंने अर्हन्त अवस्थामें संसारके प्राणियोंको जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपदेश दिया था। उनका उपदेश प्रवचन तीर्थ या आगम तीर्थ कहलाता है। तबसे लेकर आज तक श्री वीर जिनका शासन प्रवर्तमान है। श्री वीर जिनने भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें अनुशासित (शिक्षित) किया था और गुणानुशासनसे अनुशासित भव्य जीवोंका भव नष्ट हो गया था। इसी कारण उनके शासनका विशेष माहात्म्य है। श्री वीर जिनके समयमें उनके शासनका माहात्म्य जयवन्त था ही। किन्तु इस कलिकाल (पंचम काल) में भी वह जयवन्त है। गणधरादि देव उनके इस शासन वैभवकी स्तुति करते हैं। गणधरादिमें अवधिज्ञान-मनःपर्ययज्ञानरूप तेज विद्यमान रहता है। उन्होंने उस ज्ञान तेजके द्वारा लोकविभु (लोक स्वामी) हरिहरादिको महत्त्वहीन कर दिया था। अर्थात् हरिहरादि उनके समक्ष प्रभाहीन हो गये थे। राग-द्वेषादि दोष पीड़ाकारक होनेसे चाबुकके समान हैं। गणधरादि देव इन दोषरूप चाबुकोंके निराकरण करनेमें समर्थ हैं। ऐसे गणधरादि देवोंके द्वारा श्री वीर जिनके शासनकी स्तुति की जाती है।

उक्त श्लोकमें चार बार विभव शब्द आया है। यहाँ प्रथम विभवका अर्थ है—माहात्म्य। द्वितीय विभवका अर्थ है-विगतभव (विनष्ट संसार)। तृतीय विभवका अर्थ है—समर्थ। और चतुर्थ विभवका अर्थ है—विभु (स्वामी)। प्रथम दो विभव शब्दोंका प्रयोग एकवचनमें हुआ है। अन्तिम दो विभव शब्दोंका प्रयोग विभु शब्दके बहुवचनमें हुआ है। तृतीय विभव शब्दके पहले असन शब्द है। यहाँ असनका अर्थ है—निराकरण। अतः 'असनविभवः' का अर्थ है—निराकरण करनेमें समर्थ। चतुर्थ विभव शब्दके पहले आसन शब्द है। यहाँ आसनका अर्थ है—त्रिभुवन। अतः 'आसनविभवः' का अर्थ होता है—तीन लोकके स्वामी हरिहरादि। इनको लोकमें स्वामी माना जाता है। इसलिए 'प्रभाकृशासनविभवः' का अर्थ होता है—अपने ज्ञानरूप तेजसे लोकस्वामी हरिहरादिको महत्त्वहीन करनेवाले गणधरादि।

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो द्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वादः ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ—हे मुनीश्वर! आपका जो स्याद्वाद है वह निर्दोष है। क्योंकि दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमान) के द्वारा उसमें कोई विरोध नहीं आता है। इससे भिन्न जो सर्वथा एकान्तवाद है वह स्याद्वाद नहीं है। वह तो दृष्ट और इष्ट इन दोनोंके द्वारा विरोध आनेके कारण अस्याद्वाद है।

विशेषार्थ—जीवादि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। स्याद्वाद उस अनन्तधर्मात्मक वस्तुके प्रतिपादन करनेका साधन या उपाय है। अनेकान्त और स्याद्वाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्द पर्यायवाची नहीं हैं, किन्तु अनेकान्तवाद और स्याद्वादको पर्यायवाची कह सकते हैं। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक। स्याद्वाद यह संयुक्त पद है। स्यात् और वाद इन दो शब्दोंके मिलनेसे स्याद्वाद पद बनता है। स्यात्का अर्थ है—कथंचित् और वादका अर्थ है—कथन। किसी अपेक्षा विशेषसे किसी धर्म-का कथन करना स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वादमें जो स्यात् शब्द है उसका ठीक-ठीक अर्थ समझना आवश्यक है। उसको ठीक तरहसे न समझनेके कारण अनेक लोग स्याद्वादका सही अर्थ समझ ही नहीं पाते हैं। कोई स्यात्का अर्थ संशय करते हैं तो कोई संभावना। कोई स्यात्का अर्थ कदाचित् करते हैं तो कोई स्यात् शब्दको विधिलिङ्लकारमें निष्पन्न मानते हैं। स्यात् शब्दका अर्थ शायद करके कोई स्याद्वादको सन्देहवाद कहते हैं और कोई उसको संभावनावाद कहते हैं। ऐसे लोगोंको यह जान लेना आवश्यक है कि स्यात् शब्द तिङन्त नहीं है। वह एक निपात संज्ञक अव्यय है। वह सन्देहका वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षाका वाचक है। जैन शास्त्रोंमें स्यात् शब्दका विवेचन इस प्रकार किया गया है—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥

—आप्तमीमांसा-१०३

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।

—आप्तमीमांसा-१०४

अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। —लघीयस्त्रयटीका।

सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः।

—पञ्चास्तिकाय टीका।

स्यादित्यव्ययमनेकान्तताद्योतकं ततः स्याद्वाद अनेकान्तवाद इति यावत्।

—स्याद्वादमंजरी।

स्यात् शब्दके विषयमें पहली बात यह हैं कि वह निपातसंज्ञक अव्यय है। अव्यय शब्द सदा एक-सा रहता है, वह कभी बदलता नहीं है और न उसके कभी रूप चलते हैं। दूसरी बात यह है कि वह एकान्तका निराकरण करके अनेकान्त-का प्रतिपादन करता है। स्यात् शब्द कथंचित् शब्दका पर्यायवाची है। वह एक निश्चित अपेक्षाको बतलाता है। उसका अर्थ अनिश्चय या संशय नहीं है। जो लोग स्यात् शब्दको संशय परक मानते हैं उन्हें यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि स्यात् शब्दका प्रयोग करते समय उसके साथ एव शब्द भी लगा रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे—'स्यादस्त्येव घटः'। यहाँ स्यात्के साथ एव शब्दके प्रयोगसे संशय होना तो दूर रहा, उल्टा वस्तुके विषयमें दृढ़ निश्चय हो जाता है कि घट स्वरूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षासे अस्तिरूप ही है। किसी वाक्यमें एव शब्दका प्रयोग न होने पर भी उसका अभिप्राय वहाँ भी अवश्य विद्यमान रहता है।

स्याद्वाद अनेकधर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन करता है। किन्तु उसके द्वारा वस्तुके अनेक धर्मोंका प्रतिपादन क्रमशः होता है। स्याद्वाद एक समयमें मुख्य रूप-से एक धर्मका ही प्रतिपादन करता है और शेष धर्मोंका गौणरूपसे द्योतन करता है। जब कोई कहता है कि 'स्यादस्ति घटः'—घट कथंचित् है तो यहाँ स्यात् शब्द बतलाता है कि घटका अस्तित्व किस अपेक्षासे है। अर्थात् स्वरूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षासे घटका अस्तित्व है। इसके साथ ही वह यह भी बतलाता है कि घट सर्वथा अस्तिरूप ही नहीं है, किन्तु अस्तित्व धर्मके अतिरिक्त उसमें नास्तित्व आदि अनेक धर्म भी रहते हैं। उन्हीं अनेक धर्मोंकी सूचना स्यात् शब्द-से मिलती है। बात यह है कि वस्तु अनेक दृष्टिकोणोंसे देखी जा सकती है और उन अनेक दृष्टिकोणोंका प्रतिपादन स्याद्वादके द्वारा किया जाता है। स्याद्वाद समग्र वस्तु पर एक ही धर्मके पूर्ण अधिकारका निषेध करता है। वह कहता है कि वस्तु पर सब धर्मोंका समानरूपसे अधिकार है। विशेषता केवल इतनी है कि जिस धर्मके प्रतिपादनकी जिस समय विवक्षा होती है उस समय उस धर्मको पकड़ लेते हैं और शेष धर्मोंको ढीला कर देते हैं। जैसे दधिमन्थन करनेवाली गोपी मथानेकी रस्सीके एक छोरको खींचती है और दूसरे छोरको ढील देती है। इस प्रकार वह रस्सीके आकर्षण और शिथिलीकरणके द्वारा दधिका मन्थन कर इष्ट तत्त्व घृतको प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार स्याद्वादनीति भी एक धर्मके आकर्षण और शेष धर्मोंके शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थकी सिद्धि करती है। इसी विषयमें आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

स्याद्वाद विभिन्न दृष्टिकोणोंका समन्वय करता है। यदि किसी वस्तुको पूर्णरूपसे समझना है तो इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उसका निरीक्षण करना आवश्यक है। किसी विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विचार करनेका नाम ही स्याद्वाद है और एक दृष्टिकोणसे विचार करनेका नाम एकान्तवाद है। एकान्त-वादी अपने दृष्टिकोणको पूर्ण सत्य मानकर अन्य लोगोंके दृष्टिकोणोंको मिथ्या बतलाते हैं। मतभेदों तथा संघर्षोंका कारण यही एकान्तदृष्टि है। श्री वीर जिन-का स्याद्वादसिद्धान्त विभिन्न मतभेदोंको दूर करनेमें सर्वथा समर्थ है। इस प्रकार स्याद्वाद हमारे सामने समन्वयका मार्ग उपस्थित करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तधर्मात्मक वस्तुकी ठीक-ठीक व्यवस्था करनेके कारण स्याद्वाद सुव्यवस्थित है। सुव्यवस्थित होनेके साथ-साथ वह व्यावहारिक भी है। स्याद्वाद नित्य व्यवहारकी वस्तु है। इसके बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है। जितना भी लोकव्यवहार होता है वह सब आपेक्षिक होता है और आपेक्षिक व्यवहारके कथनका नाम ही स्याद्वाद है। विश्वके प्रत्येक तत्त्व पर स्याद्वाद मुद्रा अंकित है। भगवान् महावीरने इसी स्याद्वादका उपदेश दिया था। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसामें स्याद्वादको केवलज्ञानके समान बतलाया है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सर्वतत्त्व प्रकाशक हैं। उनमें भेद केवल इतना है कि केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे सब तत्त्वोंको जानता है और स्याद्वाद परोक्षरूपसे सब तत्त्वोंको जानता है। अतः केवलज्ञान और स्याद्वाद दोनों ही पूर्णदर्शी हैं। यहाँ स्याद्वादको श्रुतज्ञानके रूपमें बतलाया गया है।

भगवान् महावीरका स्याद्वाद निर्दोष है। क्योंकि उसमें न तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है और न अनुमान, आगम आदि परोक्ष प्रमाणोंसे विरोध आता है। तात्पर्य यह है कि स्याद्वादके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं है। वस्तु सर्वथा नित्य है अथवा सर्वथा क्षणिक है, इत्यादि प्रकारका जो सांख्य, बौद्ध आदिका कथन है वह स्याद्वाद नहीं है, किन्तु सर्वथैकान्तवाद है। क्योंकि उनके कथनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाणोंसे विरोध आता है। वस्तुमें सर्वथा नित्यत्व या क्षणिकत्वकी सिद्धि किसी भी प्रमाणसे नहीं होती है। इसके विपरीत दोनों प्रमाणोंसे उसमें विरोध ही आता है। यही कारण है कि एकान्तवादियोंका कथन स्याद्वाद नहीं है, वह तो अस्याद्वाद है। एकान्तवादियोंके कथनमें स्यात् शब्दकी अपेक्षा न होनेके कारण उसे अस्याद्वाद कहा गया है।

मुद्रित प्रतियोंमें इस श्लोकके चतुर्थ चरणमें 'स द्वितयविरोधात्' ऐसा पाठ है। यहाँ 'स' शब्दका प्रयोग गलत एवं अनावश्यक है। यहाँ 'स' शब्द होनेसे तृतीय चरणके अन्तमें 'स्याद्वादो' ऐसा ओकारान्त शब्द न होकर 'स्याद्वादः' ऐसा शब्द होगा। क्योंकि व्याकरणके नियमानुसार 'स' शब्दसे पहलेके शब्दके अन्तमें विसर्गके स्थानमें 'ओ' नहीं होता है। अतः 'द्वितयविरोधात्' ऐसा पाठ शुद्ध तथा उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त इस श्लोकमें प्रयुक्त छन्दके अनुसार भी 'स' शब्दका प्रयोग गलत है। इस श्लोकमें आर्यागीति (स्कन्धक) नामक छन्द है। जिसके विषम चरणोंमें १२-१२ और समचरणोंमें २०-२० मात्रायें होती हैं उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्यागीति अथवा स्कन्धक छन्द कहते हैं। इसलिए चतुर्थ चरणमें 'स' शब्दके प्रयोगसे मात्रायें और बढ़ जायेंगी तथा छन्दभंग हो जायेगा।

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ—हे भगवन्! आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं। किन्तु मिथ्यादृष्टि जीवोंके अभक्त हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामसे पूजित नहीं हैं। आप तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिए परम हितकारो हैं। और आवरणरहित ज्योति (केवलज्ञान) से प्रकाशमान उज्ज्वल धाम (मोक्षस्थान) को प्राप्त हुए हैं।

विशेषार्थ—जन्म कल्याणक आदि अवसरों पर कल्पवासी आदि चारों प्रकारके देव आकर श्री वीर जिनकी पूजा करते हैं। श्री वीर जिनेन्द्र सुरों (देवों) से ही पूजित नहीं होते हैं किन्तु असुरों (अदेवों) से भी पूजित होते हैं। यहाँ असुर शब्द से मनुष्यों और तिर्यञ्चों का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् वे गणधर, चक्रवर्ती, सिंह आदिसे भी पूजित होते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि श्री वीर जिन समवसरणमें स्थित समस्त भव्य जीवोंसे पूजित होते हैं। मिथ्यात्वादि परिग्रहको ग्रंथि (गाँठ) कहते हैं। ऐसी ग्रन्थि जिनके विद्यमान है वे ग्रंथिकसत्त्व (मिथ्यादृष्टि जीव) कहलाते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवोंके आशय (अभक्तचित्त) से होनेवाले प्रणामसे श्री वीर जिन पूजित नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव भले ही ऊपरी प्रणामादिसे भगवान्‌की पूजा करें, किन्तु श्री वीर जिन उनकी पूजाके पात्र न होकर यथार्थमें सम्यग्दृष्टियोंके ही पूजाके पात्र हैं। यथार्थ बात तो यह है कि चाहे कोई उनकी पूजा करे या न करे परन्तु वे तो निःस्वार्थ-भावसे मोक्षमार्गका उपदेश देकर तीनों लोकोंके जीवोंका कल्याण करते हैं। औरा अन्तमें उस मोक्ष धामको प्राप्त कर लेते हैं जो केवलज्ञानरूप ज्योतिसे सद प्रकाशमान रहता है।

सभ्यानामभिरुचितं
दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम्।
मग्नं स्वस्यां रुचि तं
जयसि च मृगलाञ्छनं स्वकान्त्या रुचितम् ॥ ५ ।

सामान्यार्थ—हे वीर जिन! आप समवसरण सभामें स्थित भव्य जीवोंको रुचिकर तथा अष्टप्रातिहार्यादिरूप लक्ष्मीसे अच्छी तरहसे पुष्ट या व्याप्त गुणोंके आभूषणको धारण करते हैं। और आप अपने शरीरकी कान्तिसे उस मृगलांछन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(चन्द्रमा) को जीतते हैं, जो अपनी कान्तिमें मग्न है और जो सबको सुन्दर लगता है।

विशेषार्थ—यहाँ श्री वीर जिनके आध्यात्मिक और शारीरिक गुणोंको बतलाया गया है। श्री वीर जिन सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी हैं। ये ही उनके आध्यात्मिक गुण हैं। वे इस गुणरूप आभूषणको धारण करते हैं। समवसरण सभामें स्थित भव्य जीव श्री वीर जिनके इन गुणोंको देखकर परम प्रसन्न होते हैं और उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए भगवान्‌की पूजा, वन्दनादि करते हैं। श्री वीर जिनके मोक्षमार्गनेतृत्व, कर्मभूभृद्भेत्तृत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व ये तीन अन्तरंग गुण समवसरण तथा अष्टप्रातिहार्यादिरूप बहिरंग लक्ष्मीसे युक्त होनेके कारण और भी अधिक शोभाको प्राप्त होते हैं। श्री वीर जिनके शरीरकी कान्ति भी अनुपम एवं आश्चर्यजनक है। वे अपने शरीर की कान्तिसे चन्द्रमाकी कान्तिको जीत लेते हैं। यद्यपि चन्द्रमाकी कान्ति या प्रकाश सबको अच्छा लगता है, फिर भी श्री वीर जिनके शरीरकी कान्तिके समक्ष चन्द्रमाकी कान्ति महत्त्वहीन हो जाती है।

त्वं जिन गतमदमायस्तव भावानां मुमुक्षुकामद मायः।
श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः॥ ६॥

सामान्यार्थ—मुमुक्षुओंके मनोरथको देनेवाले हे वीर जिन! आप मद और मायासे रहित हैं। आपका जीवादिपदार्थविषयक माय (केवलज्ञान) अत्यन्त प्रशंसनीय अथवा कल्याणकारी है। आपने लक्ष्मीसे युक्त तथा मायासे रहित उत्कृष्ट यम और दमका उपदेश दिया है।

विशेषार्थ—यहाँ श्री वीर जिनकी अनेक आध्यात्मिक विशेषताओंको बतलाया गया है। श्री वीर जिन मुमुक्षुओंके लिए इच्छित पदार्थको देनेवाले हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे किसीको कुछ देते हैं। यथार्थमें वे किसीको कुछ नहीं देते हैं। अर्हन्त अवस्थामें उन्होंने भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका जो उपदेश दिया है वह भी किसी स्वार्थ या इच्छाके बिना ही दिया है। अतः 'मुमुक्षुकामद' का तात्पर्य यही है कि यदि कोई मुमुक्ष उनकी शरणमें जाता है तो वह अपनी भक्ति से उपार्जित पुण्यके द्वारा इच्छित फलको प्राप्त कर लेता है। श्री वीर जिन मद और मायासे रहित हैं। उन्होंने ज्ञानमद, तपमद, बलमद, रूपमद आदि आठ प्रकारके मदोंको तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंको जीत लिया है। इस श्लोकमें आगत माया शब्दके द्वारा उपलक्षणसे अन्य कषायोंका भी ग्रहण करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री वीर जिनका जीवादि समस्त पदार्थोंको जाननेवाला केवलज्ञान अथवा आगमरूप ज्ञान अत्यन्त श्रेष्ठ है। क्योंकि ऐसा ज्ञान अन्य किसी संसारी जीवमें नहीं पाया जाता है। श्री वीर जिनने सप्रयाम (उत्कृष्ट यम) और दमका उपदेश दिया है। अहिंसादि पाँच महाव्रत उत्कृष्ट यम हैं और स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और मनको वशमें करना दम कहलाता है। उनका उपदेश श्रीमत् और अमाय (माया रहित) है। अर्थात् यम और दमके उपदेश द्वारा भव्य जीवोंको हेयोपादेय तत्त्वोंके परिज्ञानरूप लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है अथवा स्वर्ग, अपवर्ग आदिरूप लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त उनके उपदेश द्वारा जीवोंके माया आदि कषायोंका अभाव हो जाता है। अथवा उस उपदेशमें किसी प्रकारका छल-कपट नहीं रहता है। वह तो भव्य जीवोंके कल्याणकी भावनासे दिया जाता है। इसी कारण उनके उपदेशको श्रीमत् और अमाय कहा गया है।

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः।
तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥ ७ ॥

सामान्यार्थ—जिस प्रकार पर्वतकी भित्तियोंको विदारण करनेवाले, झरते हुए मदके दानी और उत्तम जातिके हाथीका गमन होता है, उसी प्रकार परम अहिंसादान (अभयदान) के दानी और शमवादों (आगमों) के रक्षक आपका उत्कृष्ट विहार हुआ है।

विशेषार्थ—यहाँ हाथीका दृष्टान्त देकर भगवान् महावीरके विहारका वर्णन किया गया है। हाथीके गण्डस्थलसे सदा मद झरता रहता है। इस कारण हाथी-को झरते हुए मदका दानी कहा गया है। हाथी जंगलमें स्वतन्त्ररूपसे गमन करता हुआ चला जाता है। यदि उसके मार्गमें पर्वत आ जाता है और वह हाथीके गमन-में बाधक बनता है तो हाथी पर्वतकी दीवालोंको गण्डस्थलकी टक्करसे चूर-चूर कर देता। यह बात सब हाथियोंमें नहीं होती है, किन्तु जो हाथी श्रीमत् (उत्तम जातिका) होता है उसीमें उक्त विशेषता पाई जाती है। इस प्रकारके हाथीका जो गमन होता है वह स्वाधीन होता है। और उसके गमनमें कोई भी रुकावट नहीं डाल सकता है।

इसी प्रकार भगवान् महावीरका भी इस भूमण्डल पर स्वतन्त्र, उत्कृष्ट और उदार विहार हुआ है। उक्त श्लोकमें 'अपगतप्रमादानवतः' पद आया है। यहाँ प्रमाका अर्थ है—प्र (प्रकृष्ट) मा (हिंसा) प्रमा। अर्थात् प्रकृष्ट हिंसा। अतः अपगतप्रमाका अर्थ है—अहिंसा (अभयदान)। भगवान् महावीर अहिंसा अथवा अभयका दान करनेवाले हैं। जहाँ-जहाँ श्री वीर जिनका विहार होता था वहाँ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहाँ समस्त जीवोंको अभयदानकी प्राप्ति हो जाती थी। अर्थात् समस्त प्राणी स्वतन्त्ररूपसे विचरण करते थे तथा किसीको कोई डरा नहीं सकता था अथवा मार नहीं सकता था।

रागादि दोषोंके उपशमको शम कहते हैं। श्री वीर जिन शमके प्रतिपादक वादों (आगमों) की रक्षा करनेवाले हैं। उन्होंने शमका उपदेश दिया और गणधरोंने शम प्रतिपादक आगमोंकी रचना की। इसलिए श्री वीर जिन शम प्रतिपादक आगमके प्रवर्तक या रक्षक हुए। ऐसे भगवान् महावीरका इस भूमण्डल पर उत्कृष्ट, निर्बाध और उदार विहार हुआ है। उनका विहार न तो किसीकी प्रेरणासे होता था और न किसीके रोकनेसे रुकता था। वह विहार तो भव्य जीवों-के नियोगसे उनके कल्याणके लिए होता था। यही कारण है कि श्री महावीर भगवान्के विहारको उत्कृष्ट, उदार और निर्बाध कहा गया है।

उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यही है कि भगवान् महावीरने अपने उपदेश द्वारा अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रहरूप सन्मार्गका उपदेश दिया है। इसके साथ ही सर्वथा एकान्त प्रतिपादक उन सभी वादों (मतों) का निराकरण किया है जो गिरिभित्तियोंकी तरह सन्मार्गके बाधक हैं।

बहुगुणसम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्याससकलम्।
नयभक्त्यवतंसकलं तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम्॥ ८॥
(१४२)

सामान्यार्थ—हे देव! जो परमत है वह मधुर वचनोंके विन्यास (रचना) से सुन्दर होता हुआ भी बहुत गुणोंकी सम्पत्तिसे असकल (अपूर्ण) है। किन्तु आपका मत नयोंके भंगरूप अलंकारोंसे अलंकृत है, बहुगुण सम्पत्तिसे मनोज्ञ है, सकल (पूर्ण) है और सब ओरसे भद्र (कल्याण कारक) है।

विशेषार्थ—यहाँ भगवान् महावीरके शासनकी अन्य एकान्तवादियोंके शासनसे तुलना की गयी है। चार्वाक, सांख्य, बौद्ध आदि सर्वथैकान्तवादियोंका मत कर्णप्रिय वाक्योंकी रचनासे मनोहर तथा रुचिकर मालूम पड़ता है। चार्वाक का निम्नलिखित वचन कितना मनोहर है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् जब तक जिओ सुखसे जिओ। पासमें धन न हो तो ऋण लेकर घी, दूध पिओ। ऋण चुकाने की चिन्ता छोड़ो। क्योंकि देहके भस्म हो जाने पर जीवका पुनरागमन नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें न कोई ऋण देने वाला रहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और न कोई ऋण लेने वाला ही रहता है। तब कौन किसको ऋण चुकायेगा। देहात्मवादी चार्वाकका उक्त वचन कितना मधुर है। इसी प्रकार अन्य एकान्त-वादियोंके वचन मनोहर होते हुए भी सर्वज्ञत्व, वीतरागित्व और हितोपदेशित्व आदि गुणोंसे रहित होनेके कारण अपूर्ण, सबाध तथा अकल्याणकारी हैं।

इसके विपरीत श्री वीर जिनका शासन नैगमादि नयों अथवा द्रव्यार्थिकादि नयोंके भंगरूप अलंकारोंसे अलंकृत है। तात्पर्य यह है कि श्री वीर जिनका शासन अनेकान्त शासन है। वह स्यादस्ति, स्यान्नास्ति इत्यादि रूप सप्त भंगोंके आधारसे परस्पर सापेक्ष नयोंके द्वारा वस्तु तत्त्वका प्रतिपादन करता है। इस प्रकार वह यथार्थ वस्तु तत्त्वके निरूपणमें सर्वथा समर्थ है। तथा प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे बाधित न होनेके कारण निर्बाध है। उसमें सर्वज्ञत्व, वीतरागित्व और हितो-पदेशित्व आदि गुण विद्यमान होनेसे वह बहुगुण सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण पूर्ण है। इसके साथ ही वह समन्तभद्र है—सब ओरसे और सब प्रकारसे सबका कल्याण करनेवाला है।

आठवें श्लोकमें समन्तभद्र पद श्लेषात्मक है। अतः यह पद स्वयम्भूस्तोत्रके रचयिता आचार्य समन्तभद्रके नामको भी सूचित करता है। इसके साथ ही समन्तभद्र पद यह भी सूचित करता है कि स्वयम्भूस्तोत्रका दूसरा नाम समन्त-भद्र स्तोत्र भी है। इस ग्रन्थकी अनेक प्रतियोंमें इसका दूसरा नाम समन्तभद्र स्तोत्र भी पाया जाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचार्य समन्त-भद्रके ग्रन्थ प्रायः दो नामोंको लिये हुए हैं। जैसे देवागमका दूसरा नाम आप्त-मीमांसा और स्तुतिविद्याका दूसरा नाम जिनशतक है। इनमेंसे पहला नाम ग्रन्थके प्रारंभमें और दूसरा नाम ग्रन्थके अन्तमें मिलता है। ऐसी स्थितिमें यह संभव है कि स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तिम श्लोकमें जो समन्तभद्र पद है उसके द्वारा उसका दूसरा नाम समन्तभद्र स्तोत्र सूचित किया गया हो। अतः समन्तभद्रस्तोत्रका अर्थ इसप्रकार करना चाहिए—समन्तभद्र द्वारा रचित स्तोत्र अथवा सबका कल्याण करने वाला स्तोत्र।

इस प्रकार स्वयम्भूस्तोत्र की तत्त्वप्रदीपिका नामक यह व्याख्या समाप्त हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट–१

स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक अनुक्रमणी

	पृष्ठ
अ	
अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च	४६
अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं	६४
अतएव ते बुधनुतस्य	१६५
अद्यापि यस्याजिशासनस्य	३५
अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिः	१४७
अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो	११०
अनवद्यः स्याद्वादस्तव	१७३
अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः	४०
अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं	८०
अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं	५१
अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते	१३५
अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः	१३९
अन्तकः क्रन्दको नृणां	१३२
अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं	५०
अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया	८७
अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं	६५
अहिंसा भूतानां जगतिविदितं	१५६
आयत्यां च तदात्वे च	१३१
इ	
इति निरुपमयुक्तशासनः	१४१
ए	
एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं	७६
एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः	९३
क	
ककुदं भुवः खचरयोषिदुषित-	१६४
कन्दर्पस्योद्धरो दर्पः	१३१
कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनां	१११
कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो	११७
कीर्त्या भुवि भासि तया	१७२
कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः	१२४
ग	
गिरिभित्त्यवदानवतः	१७९
गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं	८२
गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य	१२८
गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्	४५
गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य	६१
च	
चक्रेण यः शत्रुभयङ्करेण	११९
चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं	७१
ज	
जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो	४७
त	
तथापि ते मुनीन्द्रस्य	१२८
तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्	७७
तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः	१६७
तव जिन शासनविभवो	१७२
तव रूपस्य सौन्दर्यं	१२९
तव वागमृतं श्रीमत्	१३४
तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासां	१२४
ते तं स्वघातिनं दोषं	१३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

	पृष्ठ
त्वमसि सुरासुरमहितो	१७७
त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम	११४
त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः	८८
त्वं जिन गतमदमायः	१७८
त्वं शंभवः संभवतर्षरोगैः	३९
त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा	१५३
द	
दुरितमलकलङ्कमष्टकं	१५१
दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे	९२
देवमानवनिकायसत्तमै-	११६
द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्ब-	१६३
ध	
धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्	११५
न	
नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिर-	१६२
न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे	९६
नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं	६०
नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता	१०८
न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो	८४
न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति	५५
नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेः	७९
प	
पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः	५८
परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः	१०६
परिणतशिखिकण्ठरागया	१४७
परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी	१११
पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य	९७
प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः	२८
प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो	११६
ब	
बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू	४२

	पृष्ठ
बभार पद्मां च सरस्वतीं च	५८
बहिरन्तरप्युभयथा च	१६५
बहुगुणसम्पदसकलं	१८०
बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वं	१२५
बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं	१०१
बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो	६८
बृहत्फणामण्डलमण्डपेन	१६८
भ	
भगवानृषिः परमयोग-	१६०
भूषावेषायुधत्यागि-	१३३
म	
मतिगुणविभवानुरूपतः	१४२
मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्	११८
मोहरूपो रिपुः पापः	१३०
य	
यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः	९८
य एव नित्यक्षणिकादयो नया	१०३
यः प्रादुरासीत् प्रभुशक्तिभूम्ना	३६
यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः	७३
यथैकशः कारकमर्थसिद्धये	१०४
यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं	१७०
यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निः	१४६
यस्य च मूर्तिः कनकमयीव	१४३
यस्य पुरस्ताद्विगलितमानाः	१४४
यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य	३४
यस्य महर्षेः सकलपदार्थ-	१४३
यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः	१४५
यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं	७२
यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या	१२७
यस्मिन्नभूद् राजनि राजचक्रं	१२२
ये परस्खलितोन्निद्राः	१३६
येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं	३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

	पृष्ठ
र	
राज्यश्रिया राजसु राज्यसिंहो	१२१
ल	
लक्ष्मीविभवसर्वस्वं	१२९
व	
वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं	१५८
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च	१६४
विधाय रक्षां परतः प्रजानां	११९
विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः	९०
विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ	५६
विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं	१५४
विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो	९१
विशेष्यवाच्यस्य विशेषणं वचो	१०७
विहाय यः सागरवारिवाससं	२९
श	
शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः	४४
शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं	४१
शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते	५९
शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं	१४८
शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु	९५
श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः	८९
स	
स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां	७५
स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्	४८
सतः कथंचित्तदसत्वशक्तिः	५३
सदेकनित्यवक्तव्याः	१३८
स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुः	३७
सभ्यानामभिरुचितं	१७७
समन्ततोऽङ्गभासां ते	१३३
सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता	६९
सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतः	१३४
सर्वथानियमत्यागी	१३९
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां	३१
स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः	१७१
सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं	८५
सुहृत् त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते	११२
स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय	१५२
स्थितिजननिरोधलक्षणं	१४९
स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया	८६
स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः	१२३
स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा	३०
स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता	७३
स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया	१६९
स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले	२७
स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां	६३
ह	
हरिवंशकेतुरनवद्य-	१६०
हलभृच्च ते स्वजनभक्ति-	१६३
हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो	१२६
क्ष	
क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिः	४६
त्र	
त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्न-	१६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट—२

स्वयम्भूस्तोत्रान्तर्गत विशिष्ट शब्द अनुक्रमणिका

श्री वृषभ जिन स्तवन

श्लोक संख्या **पृष्ठ संख्या**

१. स्वयम्भू, भूतहित, समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षु, विधुन्वत्, तम, क्षपाकर, गुणोत्कर, कर। २७

२. प्रजापति, जिजीविषु, कृष्यादिकर्म, प्रबुद्धतत्त्व, अद्‌भुतोदय, ममत्व, विदांवर। २८

३. सागरवारिवासस, वसुधावधू, सती, मुमुक्षु, इक्ष्वाकुकुल, आत्मवान्, सहिष्णु, अच्युत। २९

४. स्वदोषमूल, स्वसमाधितेज, निर्दयभस्मसात्क्रिया, तत्त्व, ब्रह्मपदामृतेश्वर। ३०

५. विश्वचक्षु, वृषभ, सत्, समग्र विद्यात्मवपु, निरञ्जन, नाभिनन्दन, जिन, जितक्षुल्लकवादिशासन। ३१

श्री अजित जिन स्तवन

१. त्रिदिवच्युत, क्षीबमुखारविन्द, अजेयशक्ति, बन्धुवर्ग, अजित। ३४

२. अजितशासन, प्रतिमङ्गल, स्वसिद्धिकाम जन। ३५

३. प्रभुशक्ति, भव्याशयालीनकलङ्कशान्ति, महामुनि, मुक्तघनोपदेह। ३६

४. घर्मतीर्थ, गाङ्गह्रद, चन्दनपङ्कशीत, गजप्रवेक, घर्मतप्त। ३६

५. ब्रह्मनिष्ठ, सममित्रशत्रु, विद्याविनिर्वान्तकषायदोष, लब्धात्मलक्ष्मी, अजित, अजितात्मा, जिनश्री। ३७

श्री शंभव जिन स्तवन

१. शम्भव, संभवतर्षरोग संतप्यमानजन, आकस्मिक वैद्य, अनित्य, अत्राण, अहंक्रिया। ३९

२. प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोष, जन्मजरान्तकार्त, निरञ्जना शान्ति। ४०

३. शतह्रदोन्मेषचल, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतु, तृष्णाभिवृद्धि। ४१

४. बन्ध, मोक्ष, बद्ध, मुक्त, मुक्ति, स्याद्वादी, एकान्तदृष्टि, शास्ता। ४२

५. शक्र, पुण्यकीर्ति, अज्ञ, भक्ति, आर्य, शिवताति।

श्री अभिनन्दन जिन स्तवन

१. गुणाभिनन्द, अभिनन्दन, दयावधू, क्षान्तिसखी, समाधितंत्र, नैर्ग्रंन्थ्यगुण। ४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक संख्या **पृष्ठ संख्या**

२. अचेतन, तत्कृतबन्धज, आभिनिवेशिकग्रह, प्रभङ्गुर, स्थावरनिश्चय, तत्त्व ४६

३. क्षुदादिदुःखप्रकार, इन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्य, गुण, देहदेही, भगवान् । ४६

४. अनुबन्धदोष, अकार्य, अनुबन्धदोषवित् । ४७

५. अनुबन्ध, तापकृत्, तृषोऽभिवृद्धि, प्रभु, लोकहित, गति । ४८

श्री सुमति जिन स्तवन

१. अन्वर्थसंज्ञ, सुमति, मुनि, सुयुक्तिनीत, सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धि । ५०

२. तत्त्व, भेदान्वयज्ञान, उपचार, तच्छेषलोप, अनुपाख्य । ५१

३. सत्, कथञ्चित्, तदसत्त्वशक्ति, सर्वस्वभावच्युत, अप्रमाण, स्ववाग्विरुद्ध, दृष्टि । ५३

४. सर्वथा नित्य, क्रियाकारक, असत्, सत्, पुद्गलभाव । ५५

५. विधि, निषेध, कथञ्चित्, विवक्षा, मुख्यगुणव्यवस्था, सुमति, मतिप्रवेक । ५६

श्री पद्मप्रभ जिन स्तवन

१. पद्मप्रभ, पद्मपलाशलेश्या, पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्ति, भव्यपयोरुह, पद्माकर, पद्मबन्धु । ५८

२. पद्मा, सरस्वती, प्रतिमुक्तिलक्ष्मी, सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलिता । ५८

३ प्रभु, नरामराकीर्णसभा, पद्माभमणि । ५९

४. सहस्रपत्राम्बुजगर्भचार, पादाम्बुज, पातितमारदर्प, भूति । ६०

५. गुणाम्बुधि, अज, आखण्डल, ऋषि, अतिभक्ति, बाल । ६१

श्री सुपार्श्व जिन स्तवन

१. आत्यन्तिक स्वास्थ्य, स्वार्थ, भोग, परिभङ्गुरात्मा, तृषोऽनुषङ्ग, तापशान्ति, भगवान्, सुपार्श्व । ६३

२. अजङ्गम, जङ्गमनेययन्त्र, बीभत्सु, पूति, क्षयि, तापक, स्नेह, हित । ६४

३. अलङ्घ्यशक्ति, भवितव्यता, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा, अनीश्वर, अहंक्रियार्त । ६५

४. मृत्यु, मोक्ष, शिव, बाल, भयकामवश्य । ६८

५. सर्व तत्त्व, प्रमाता, बाल, हितानुशास्ता, गुणावलोक, नेता । ६९

श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन

१. चन्द्रप्रभ, ऋषीन्द्र, जिन, जितस्वान्तकषायबन्ध । ७१

२. अङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्न, तमोऽरि, ध्यानप्रदीपातिशय । ७२

३. स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्त, वाक्सिंहनाद, विमद, प्रवादी, मदार्द्र गण्ड, केसरी, निनाद । ७३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक संख्या | पृष्ठ संख्या

४. सर्वलोक, परमेष्ठिता, अद्भुतकर्मतेज, अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षु, समन्तदुःखक्षयशासन । ७३

५. विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेप, व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमाला, पवित्र, भगवान्, भव्यकुमुद्वती । ७५

श्री सुविधि जिन स्तवन

१. एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि, तत्त्व, प्रमाणसिद्ध, तदतत्स्वभाव, समालीढपद । ७६

२. तथाप्रतीति, कथञ्चित्, अन्यत्व, अनन्यता, विधि, निषेध, शून्यदोष । ७७

३. अन्यत्वप्रतिपत्तिसिद्धि, बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोग । ७९

४. पद वाच्य, प्रत्ययवत्, प्रकृति, आकाङ्क्षी, स्यात् निपात, गुणानपेक्ष, नियम, अपवाद । ८०

५. गुणप्रधानार्थ, अपथ्य, जगदीश्वर, साधु । ८२

श्री शीतल जिन स्तवन

१. मुनि, अनघवाक्यरश्मि, शमाम्बुगर्भ । ८४

२. सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छित, ज्ञानमयामृताम्बु, विषदाहमोहित, मन्त्रगुण । ८५

३. स्वजीवित, कामसुख, आर्य, अप्रमत्तवान्, आत्मविशुद्धवर्त्म । ८६

४. अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णा, तपस्वी, कर्म, जन्मजराजिहासा, समधी, त्रयी प्रवृत्ति । ८७

५. उत्तमज्योति, अज, निर्वृत, बुद्धिलवोद्धतपक्ष, स्वनिःश्रेयसभावनापर, बुधप्रवेक, जिन, शीतल । ८८

श्री श्रेयांस जिन स्तवन

१. श्रेयान् जिन, अजेयवाक्य, भुवनत्रय, वीतघन, विवस्वान् । ८९

२. विधि, विषक्तप्रतिषेधरूप, प्रमाण, प्रधान, गुण, मुख्यनियामहेतु, नय, दृष्टान्त समर्थन । ९०

३. विवक्षित, मुख्य, गुण, अविवक्ष, निरात्मक, अरिमित्रानुभयादिशक्ति वस्तु, द्वयावधि । ९१

४. दृष्टान्तसिद्धि, साध्य, सर्वथैकान्तनियामि त्वदीयदृष्टि । ९२

५. एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि, न्यायेषु, मोहरिपु, कैवल्यविभूतिसम्राट्, अर्हन् । ९३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक संख्या		पृष्ठ संख्या
	श्री वासुपूज्य जिन स्तवन	
१.	शिवा, अभ्युदयक्रिया, वासुपूज्य, त्रिदशेन्द्रपूज्य, मुनीन्द्र, तपन ।	९५
२.	पूजा, वीतराग, निन्दा, विवान्तवैर, पुण्यगुणस्मृति, दुरिताञ्जन ।	९६
३.	पूज्य, जिन, सावद्यलेश, बहुपुण्यराशि, दोष, विषकणिका शीत-शिवाम्बुराशि ।	९७
४.	गुणदोषसूति, निमित्त, अभ्यन्तरमूलहेतु, अध्यात्मवृत्त, अङ्गभूत, अभ्यन्तर ।	९८
५.	बाह्येतरोपाधिसमग्रता, द्रव्यगत, स्वभाव, मोक्षविधि, ऋषि, बुध ।	१०१
	श्री विमल जिन स्तवन	
१.	नित्यक्षणिकादिनय, मिथोऽनपेक्ष, स्वपरप्रणाशी, विमल, मुनि, परस्परेक्ष, स्वपरोपकारी ।	१०३
२.	कारक, अर्थसिद्धि, स्वसहायकारक, सामान्यविशेषमातृक नय, गुणमुख्यकल्प ।	१०४
३.	परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्ग, प्रसिद्धसामान्यविशेष, स्वपरावभासक, प्रमाण, बुद्धिलक्षण ।	१०६
४.	विशेष्यवाच्य, विशेषण, विशेष्य, सामान्य, विवक्षित, स्यात् ।	१०७
५.	नय, स्यात्पदसत्यलाञ्छित, रसोपविद्ध, लोहधातु, अभिप्रेतगुण, आर्य ।	१०८
	श्री अनन्त जिन स्तवन	
१.	अनन्तदोषाशयविग्रह, ग्रह, विषङ्गवान्, मोहमय, तत्त्वरुचि, भगवान्, अनन्तजित् ।	११०
२.	कषाय, प्रमाथी, अशेषवित्, विशोषण, मन्मथदुर्मदामय, समाधि-भैषज्यगुण ।	१११
३.	परिश्रमाम्बु, भयवीचिमालिनी, स्वतृष्णासरित्, असङ्गघर्मार्क-गभस्तितेज, निर्वृतिधाम ।	१११
४.	श्रीसुभगत्व, प्रत्ययवत्, उदासीनतम, प्रभु, चित्र, ईहित ।	११२
५.	प्रलापलेश, अल्पमति, महामुनि, अशेषमाहात्म्य, शिव, अमृताम्बुधि ।	११४
	श्री धर्म जिन स्तवन	
१.	धर्मतीर्थ, अनघ, धर्म, सत् कर्मकक्ष, तपोऽग्नि, शाश्वतशर्म, शङ्कर ।	११५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक संख्या पृष्ठ संख्या

२. देवमानवनिकायसत्तम, बुध, तारकापरिवृत, अतिपुष्कल, शशलाञ्छन, अमल। ११६

३. प्रातिहार्यविभव, मोक्षमार्ग, शासनफलैषणातुर। ११६

४. मुनि, चिकीर्षा, अचिन्त्य, ईहित। ११७

५. मानुषीप्रकृति, परमादेवता, जिनवृष। ११८

श्री शान्ति जिन स्तवन

१. अप्रतिमप्रताप, शान्ति, मुनि, दयामूर्ति, अघशान्ति। ११९

२. शत्रुभयङ्कर चक्र, नरेन्द्रचक्र, समाधिचक्र, दुर्जयमोहचक्र, महोदय। ११९

३. राज्यश्री, राजसिंह, राजसुभोगतन्त्र, आर्हन्त्यलक्ष्मी, आत्मतन्त्र, देवासुरोदारसभा। १२१

४. राजचक्र, दयादधीति, धर्मचक्र, प्राञ्जलि, देवचक्र, ध्यानोन्मुख, कृतान्तचक्र। १२२

५. स्वदोषशान्ति विहितात्मशान्ति, शान्तिविधाता, भयक्लेशभयोपशान्ति, शान्तिजिन, भगवान् शरण्य। १२३

श्री कुन्थु जिन स्तवन

१. कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतान, कुन्थुजिन, ज्वरजरामरणोपशान्ति, धर्मचक्र, भूति, क्षितिपतीश्वरचक्रपाणि। १२४

२. तृष्णा, इष्टेन्द्रियार्थविभव, कायपरितापहर, आत्मवान्, विषयसौख्यपराङ्मुख। १२४

३. बाह्य तप, परम दुश्चर, आध्यात्मिक तप, कलुषद्वयध्यान, अतिशयोपपन्न ध्यानद्वय। १२५

४. स्वकर्मकटुप्रकृति, रत्नत्रयातिशयतेज, जातवीर्य, सकलवेदविधिविनेता, दीप्तरुचि, विवस्वान्। १२६

५. मुनीन्द्र, लोकपितामहादि, विद्याविभूतिकणिका, अज, अप्रतिमेय, आर्य, सुधी, स्वहितैकतान। १२७

श्री अर जिन स्तवन

१. गुणस्तोक, तद्बहुत्वकथा, स्तुति। १२८

२. मुनीन्द्र, पुण्यकीर्ति। १२८

३. लक्ष्मीविभवसर्वस्व, मुमुक्षु, चक्रलाञ्छन, सार्वभौमसाम्राज्य, जरत्तृण। १२९

४. द्वयक्ष, शक्र, सहस्राक्ष।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक संख्या		पृष्ठ संख्या
५.	मोहरूप रिपु, कषायभटसाधन, दृष्टिसंविदुपेक्षास्त्र ।	१३०
६.	कन्दर्प, उद्धर दर्प, त्रैलोक्यविजयार्जित, प्रतिहतोदय ।	१३१
७.	दुःखयोनि, दुरुत्तरा, तृष्णानदी, विद्यानौ, विविक्ता ।	१३१
८.	अन्तक, क्रन्दक, जन्मज्वरसखा, अन्तकान्तक, कामकार ।	१३२
९.	भूषावेषायुधत्यागी विद्यादमदयापर, दोषविनिग्रह ।	१३३
१०.	बाह्यतम, अध्यात्म, ध्यानतेज ।	१३३
११.	सर्वज्ञज्योतिषोद्भूत, महिमोदय, सचेतन सत्त्व ।	१३४
१२.	वागमृत, श्रीमत्, सर्वभाषास्वभावक, संसद् ।	१३४
१३.	अनेकान्तात्मदृष्टि, सती, शून्य, विपर्यय, स्वघात ।	१३५
१४.	परस्खलितोन्निद्र, स्वदोषेभनिमीलन, तपस्वी, त्वन्मतश्री ।	१३६
१५.	स्वघाती, अनीश्वर, बाल, तत्त्वावक्तव्यता ।	१३७
१६.	सदेकनित्यवक्तव्यनय, तद्विपक्षनय, सर्वथा, स्यात् ।	१३८
१७.	सर्वथानियमत्यागी, यथादृष्टमपेक्षक, स्यात् शब्द, न्याय ।	१३९
१८.	अनेकान्त, प्रमाणनयसाधन, प्रमाण, एकान्त, अर्पितनय ।	१३९
१९.	निरुपमयुक्तशासन, प्रियहितयोगगुणानुशासन, अरजिन, दमतीर्थनायक सत्, प्रतिबोधन ।	१४१
२०.	मतिगुणविभवानुरूप, वरद, आगमदृष्टिरूप, गुणकृश, दुरितासनोदित ।	१४२

श्री मल्लि जिन स्तवन

१.	महर्षि, सकलपदार्थप्रत्यवबोध, सामरमर्त्य, जगत् ।	१४३
२.	मूर्ति, कनकमयी, स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेश, वाक्, तत्त्व, स्यात्पदपूर्व, साधु	
३.	विगलितमान, प्रतितीर्थ्य, जातविक्रोशम्बुजमृदुहास ।	१४४
४.	जिनशिशिरांशु, शिष्यकसाधुग्रहविभव, तीर्थ, जननसमुद्रत्रासित-सत्त्वोत्तरणपथ ।	१४५
५.	शुक्लध्यान, परमतपोऽग्नि, अनन्तदुरित, जिनसिंह, कृतकरणीय, मल्लि, अशल्य ।	१४६

श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन

१.	अधिगतमुनिसुव्रतस्थिति, मुनिवृषभ, मुनिसुव्रत, मुनिपरिषद्, उडुपरित्परिवीतसोमवत् ।	१४७
२.	परिणतशिखिकण्ठराग, कृतमदनिग्रह, विग्रहाभा, जिन, तपप्रसूत, ग्रहपरिवेषरुचेव ।	१४७
३.	शशिरुचिशुचिशुक्ललोहित, विरज, यति, शिव, वाङ्मनसोय ईहित ।	१४८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक संख्या		पृष्ठ संख्या
४.	स्थितिजननिरोधलक्षण, जिन, सकलज्ञलाञ्छन, वदतांवर।	१४९
५.	दुरितमलकलङ्क, निरुपमयोगबल, आत्मसौख्यवान्, भवोपशान्ति।	१५१
	श्री नमि जिन स्तवन	
१.	स्तुति, साधुस्तोता, कुशलपरिणाम, स्तुत्य, श्रायसपथ, नमि जिन।	१५२
२.	ब्रह्मप्रणिधिमन, जन्मनिगल, समूल, मोक्षपदवी, ज्ञानज्योतिविभव-किरण, खद्योत, शुचिरवि, अन्यमति।	१५३
३.	विधेय, अनुभय, उभय, मिश्र, विशेष, नियमविषय, अपरिमित, अन्योन्यापेक्ष, सकलभुवनज्येष्ठगुरु।	१५४
४.	अहिंसा, भूत, परमब्रह्म, आरम्भ, आश्रमविधि, परमकरुण, उभय-ग्रन्थ, विकृतवेषोपधिरत।	१५६
५.	भूषावेषव्यवधिरहित, शान्तकरण, स्मरशरविषातङ्कविजय, भीम शस्त्र, अदयहृदयामर्षविलय, निर्मोह, शान्तिनिलय।	१५८
	श्री नेमि जिन स्तवन	
१.	भगवान्, ऋषि, परमयोगदहनहुतकलमषेन्धन, ज्ञानविपुलकिरण, बुद्धकमलायतेक्षण।	१६०
२.	हरिवंशकेतु, अनवद्यविनयदमतीर्थनायक, शीलजलधि, विभव, अरिष्टनेमिजिनकुञ्जर, अजर।	१६०
३.	त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बित, विकसत्कुशेशयदला-रुणोदर।	१६२
४.	नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थल, स्वार्थनियतमन, सुधी, मंत्रमुखर, महर्षि।	१६२
५.	द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डल, नीलजलजदलराशिवपु, गरुडकेतु, ईश्वर।	१६३
६.	हलभृत, स्वजनभक्तिमुदितहृदय, जनेश्वर, धर्मविनयरसिक।	१६३
७.	ककुद, खचरयोषिदुषितशिखर, मेघपटलपरिवीततट, लक्षण, वज्री।	१६४
८.	तीर्थ, ऋषि, प्रीतिविततहृदय, ऊर्जयन्त, विश्रुत, अचल।	१६४
९.	करण, अविघाति, नार्थकृत्, तलामलकवत्।	१६५
१०.	बुधनुत, चरितगुण, अद्भुतोदय, न्यायविहित, जिन, सुप्रसन्नमन।	१६५
	श्री पार्श्व जिन स्तवन	
१.	तमालनील, सधनुस्तडिद्गुण, प्रकीर्णभीमाशनवायुवृष्टि, बलाहक, वैरिवश, महामना, योग।	१६७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक संख्या		पृष्ठ संख्या
२.	बृहत्फणामण्डलमण्डप, स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गी, धरणनाग, धराधर, विरागसन्ध्यातडिदम्बुद ।	१६८
३.	स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारा, दुर्जयमोहविद्विष, आर्हन्त्य, अचिन्त्य, अद्भुत, त्रिलोकपूजातिशयास्पद पद ।	१६९
४.	ईश्वर, विधूतकल्मष, तपोधन, वनौकस, स्वश्रमबन्ध्यबुद्धि, शमोपदेश ।	१७०
५.	सत्यविद्यातप प्रणायक, समग्रधी, उग्रकुलाम्बरांशुमान्, पार्श्व जिन, विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रम ।	१७१

श्री वीर जिन स्तवन

१.	वीर, गुणसमुत्था कीर्ति, उडुसभासिता, सोम, कुन्दशोभासिता ।	१७२
२.	जिन, शासनविभव, कलि, गुणानुशासनविभव, दोषकशासनविभव, प्रभाकृशासनविभव ।	१७२
३.	अनवद्य, स्याद्वाद, दृष्टेष्टाविरोध, द्वितयविरोध, मुनीश्वर, अस्याद्वाद ।	१७३
४.	सुरासुरमहित, ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहित, लोकत्रयपरमहित, अनावरणज्योतिरुज्ज्वलधामहित ।	
५.	सभ्य, गुणभूषण, मृगलाञ्छन ।	१७७
६.	जिन, गतमदमाय, मुमुक्षुकामद, श्रीमदमाय, सप्रयामदमाय ।	१७८
७.	गिरिभित्त्यवदानवत्, श्रीमत् दन्ती, स्रवद्दानवत् शमवाद, अपगतप्रमादानवान् ।	१७९
८.	बहुगुणसम्पदसकल, परमत, मधुरवचनविन्यासकल, नयभक्त्यवतंसकल, देव, मत, समन्तभद्र, सकल ।	१८०

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट–३

सन्दर्भ ग्रन्थ सारिणी

१. अष्टशती
२. अष्टसहस्री
३. आदिपुराण
४. आप्तमीमांसा
५. आराधनाकथाकोष
६. इष्टोपदेश
७. उत्तरपुराण
८. काव्यानुशासन
९. चन्द्रप्रभचरित
१०. चाणक्यनीतिदर्पण
११. छहढाला
१२. जैनेन्द्रव्याकरण
१३. तत्त्वार्थवार्तिक
१४. तत्त्वार्थसूत्र
१५. पञ्चास्तिकाय
१६. प्रवचनसार
१७. पाण्डवपुराण
१८. पार्श्वनाथचरित
१९. पुरुषार्थसिद्धयुपाय
२०. भगवद्‌गीता
२१. महाभारत
२२. मूलाचार
२३. युक्त्यनुशासन
२४. रत्नकरण्डश्रावकाचार
२५. रत्नमाला
२६. लघीयस्त्रय
२७. वरांगचरित
२८. विक्रान्तकौरव
२९. षट्‌खण्डागम
३०. समयसार
३१. स्याद्वादमंजरी
३२. हरिवंशपुराण
३३. स्वयम्भूस्तोत्र की संस्कृत टीका
३४. हिन्दी अनुवाद (श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार)
३५. हिन्दी टीका (श्री पं० पन्नालालजी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi